प्रकाशक :

राजपाल एण्ड सन्ज़
नई सड़क, दिल्ली।

१६५१
प्रथम संस्करण
मूल्य ढाई रुपया

मुद्रक :—
विजय प्रेस,
नया बाज़ार, दिल्ली।

पुस्तक के विषय में

प्रस्तुत पुस्तक 'आलोचना के सिद्धान्त' की रचना ने साहित्यिक सिद्धान्तों के गम्भीर विषय को विद्यार्थियों के लिए आशातीत सुगमता प्रदान की है। पुस्तक के दोनों ही लेखक हिन्दी साहित्य की वह प्रख्यात विभूतियाँ हैं जिनकी लेखनी के संकेत पर भाषा और भाव नृत्य करते हैं। इस रचना में प्रत्येक विषय का गहन, गम्भीरता पूर्वक विचार के साथ स्पष्टीकरण किया गया है और लेखकों ने भारतीय तथा पाश्चात्य 'आलोचना शास्त्रों के तत्वों और विधानों का सुन्दर सामंजस्य इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। साहित्य के सभी अंगों और उपांगों का विवेचनात्मक स्पष्टीकरण इस पुस्तक में लेखकों ने प्रस्तुत किया है। आशा है कि विद्यार्थी इससे समुचित लाभ उठाएंगे।

डा० सी० बी० लाल गुप्त, एम० ए० डी० फ़िल.
प्रो० बनारस यूनि०, बनारस,
८-६-५१

श्री यज्ञदत्त शर्मा जी की रचनाएं

१. विचित्र त्याग		उपन्यास
२. ललिता		,,
३. प्रेम समाधि		,,
४. दो पहलू		,,
५. इन्सान		,,
६. अंतिम चरण		,,
७. दया		,,
८. हिन्दी का संक्षिप्त साहित्य		साहित्य
९. हिन्दी साहित्य का सांकेतिक इतिहास		,,
१०. हिन्दी के उपन्यासकार		समालोचना
११. हिन्दी के कवि	(प्रेस में)	,,
१२. हिन्दी के नाटक	,,	,,

पुस्तक के विषय

विषय	पृष्ठ
१. साहित्य और समाज का सम्बन्ध	१
२. साहित्य और व्यक्ति की भाव-व्यंजना	१२
३. काव्य के विभिन्न रूप	१८
४. कविता का अध्ययन	२४
५. नाटक के प्रधान तत्व	६६
६. रङ्गमंच और सिनेमा	१२२
७. गल्प के प्रधान रूप	१३४
८. हिन्दी उपन्यासों के प्रकार	१४५
९. कहानी और एकांकी नाटकों के लक्षण	१६२
०. निबन्ध के प्रधान तत्व	१७०
. आलोचना का मूल्य	१८८

पुस्तक के विषय

विषय	पृष्ठ
१. साहित्य और समाज का सम्बन्ध	१
२. साहित्य और व्यक्ति की भाव-व्यंजना	१२
३. काव्य के विभिन्न रूप	१८
४. कविता का अध्ययन	२४
५. नाटक के प्रधान तत्व	६६
६. रङ्गमंच और सिनेमा	१२२
७. गल्प के प्रधान रूप	१३४
८. हिन्दी उपन्यासों के प्रकार	१४५
९. कहानी और एकांकी नाटकों के लक्षण	१६२
०. निबन्ध के प्रधान तत्व	१७०
. आलोचना का मूल्य	१८८

लेन-देन, बातचीत, इत्यादि से कोई सम्बन्ध ही न हो। वह समाज में रहता है। सब के साथ उसका सम्पर्क है। सब के दुःख में दुखी और सुख में सुखी होने की भावना एवं कल्पना उसमें साधारण प्राणी से अधिक जागृत रूप में वर्तमान रहती है और उसके स्पष्टीकरण की क्षमता भी। जो कुछ वह लिखता है अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर लिखता है। सामाजिक सम्पर्क द्वारा उसके जीवन में आने वाली क्रिया और प्रतिक्रिया किसी न किसी रूप में उसके साहित्य के अन्दर मुखरित हो उठती है। आदि कवि वाल्मीकि की रामायण में उस समय के समाज की रूपरेखा मिलती है। महाकवि कालीदास के शाकुंतल में उस काल के आश्रमों का बहुत सुन्दर चित्रण मिलता है और उस काल की शिक्षा-प्रणाली का एक मनोहर चित्र पाठक के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। भवभूति के उत्तर रामचरित्र से हमें पता चलता है कि उस समय किस प्रकार अपने को महामुनि बनाकर धर्म के ठेकेदारों ने गऊ के बछड़ों का माँस खाना अपने लिए शास्त्रोचित बना लिया था। इसी प्रकार शेक्सपीयर और मिल्टन के साहित्य में विक्टोरिया-युग के इंग्लैंड का सामाजिक वातावरण पाठक की आँखों में झूलने लगता है। बर्नाडशा के साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चल जाता है कि किस प्रकार उन्होंने अपने साहित्य में आज के अंग्रेजी राष्ट्र और समाज का समालोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार रूसी लेखकों ने भी अपने साहित्य में बुर्जुवा और प्रोलीतेरियत विचारधाराओं का स्पष्टीकरण बहुत निखरे ढंग से सुन्दर और कलात्मक साहित्य द्वारा पाठकों के सम्मुख रखा है। भारत में सन् १९३० के आस-पास की दुनिया का चित्रण हमें मुंशी प्रेमचन्द जी के साहित्य में देखने को मिलता है। साहित्यकार सामाजिक प्राणी होने के नाते कभी भी अपने साहित्य को समाज से पृथक् नहीं लेजा सकता। भक्ति

(१)

साहित्य और समाज का सम्बन्ध

साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध पर दृष्टि डालने से पूर्व एक क्षण ठहरकर हम साहित्य और समाज दोनों के मूल तत्वों पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं। दोनों के ही मूल तत्वों को हृदयङ्गम किए बिना इनके पारस्परिक सम्बन्ध की गहराई तक पहुँचना पाठक के लिए नितान्त असम्भव है।

साहित्य समाज के हृदय और मस्तिष्क की भावनाओं तथा विचारों को मुखरित करने वाली वह भाषा है जिस में समाज के प्राण छिपे हुए हैं, समाज की संवेदना व्यापक है, समाज की कल्पनाएँ सन्निहित हैं, और समाज का भूत, वर्तमान एवं भविष्य आदर्श और यथार्थ की चादर ओढ़े विराजमान है। लेखक अपनी सहृदयता और विचित्र अनुभव-शक्ति द्वारा दूरदर्शिता के साथ उन रहस्यों का उद्घाटन करता है जहाँ तक साधारण मनुष्य की दृष्टि नहीं पहुँच पाती और यदि पहुँच भी पाती है तो उसके पास वह भाषा और भाव-व्यंजना नहीं जिसके द्वारा वह उसे साहित्य के रूप में प्रस्फुटित कर सके। साहित्य समाज की छाया है और वह उसी प्रकार समाज को नहीं छोड़ सकता जिस प्रकार किसी चलते फिरते व्यक्ति की छाया उसे नहीं छोड़ सकती; परन्तु यहाँ अन्तर केवल इतना ही है कि व्यक्ति की छाया सर्वदा व्यक्ति का अनुकरण मात्र ही कर सकती है, व्यक्ति से छाया अपना अनुकरण करा सके यह उसके लिए

साहित्य

कि साहित्य कोरी विचारात्मकता में पड़कर अपनी रागात्मक प्रवृत्ति को नष्ट कर दे। रागात्मक प्रवृत्ति का होना साहित्य में अनिवार्य है क्योंकि जिस साहित्य में मनोरंजन की क्षमता नहीं रहेगी उसे मैं साहित्य नहीं मानता। साहित्य वही है जो रागात्मकता के साथ विचारात्मकता का समन्वय करके यथार्थवादी चित्रणों द्वारा आदर्शात्मकता को न भुलाकर समाज के सजीव चित्रों को समाज का चितेरा बनकर समाज के प्राणियों के सम्मुख प्रस्तुत करता चला जाए। साहित्य समाज से कभी पृथक् नहीं हो सकता और समाज साहित्य की आधार शिला भी है, उसका निर्माण-कर्त्ता भी है और उसके द्वारा निर्मित तथा उसकी स्थिर विचारधारा पर आश्रित भी है। दोनों एक दूसरे के बिना स्थिर नहीं रह सकते, जीवित नहीं रह सकते। संक्षेप में कोई समाज क्या है ? उसके होने की सम्भावना क्या है ? वह क्या था ? वह किस ओर जा रहा है इसका कलात्मक और क्रियात्मक इतिहास ही उसका विचारात्मक साहित्य है।

नितान्त असम्भव है; परन्तु साहित्य कभी कभी समाज से अपना अनुकरण भी कराता है। वह समाज के पीछे भी चलता है और साथ साथ कभी-कभी वह समाज का पथ प्रदर्शक बनकर समाज के मार्ग में अपने सन्निहित ज्ञान और अनुभव द्वारा प्रकाश की किरणें बिछाता हुआ भी चलता है। साहित्य समाज की भावना है, समाज की कल्पना है, समाज का इतिहास है, समाज के बौद्धिक विकास की आधारभूत शिला है, समाज के आदर्श की कसौटी है और समाज की आत्मा की पुकार है।

व्यक्तिगत और समाजगत

साहित्य दो प्रकार का होता है, एक व्यक्तिगत साहित्य और दूसरा समाजगत, अर्थात् एक में व्यक्ति का निखरा हुआ रूप अधिक विकसित होता है और दूसरे में समाज का। इन दोनों रूपों को हम सहपक्षी और विपक्षी कहकर भी नामकरण कर सकते हैं। व्यक्ति समाज से प्रथक् कोई ऐसा प्राणी नहीं हो सकता कि जिसको समाज छू ही न सके, परन्तु फिर भी वह समाज की रूढ़ियों, समाज के प्रतिबन्धों और समाज के आडम्बरों से तटस्थ होकर उसकी समस्याओं पर विचार करने और उन्हें परखने का प्रयत्न करता है। वह अपने मस्तिष्क पर और अपने हृदय पर अधिक विश्वास करता है और प्राचीन मान्यताओं के सम्मुख आँख मींचकर सिर नहीं झुकाता। उसके अन्दर प्रगति की शक्ति वर्तमान रहती है और विद्रोह करने में उसे संकोच नहीं होता। वह विस्फोट की भाँति विद्रोह की ज्वाला लिए समाजकी पुरातन रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करता हुआ क्रान्ति के पथ पर अग्रसर होता चला जाता है। वह समय और समाज के पीछे नहीं चलता बल्कि समय और समाज को अपने पीछे चलाना चाहता है और कभी कभी चलाता भी है। इस प्रकार के व्यक्ति का साहित्य विशेष रूप से विनाशकारी प्रवृत्तियों द्वारा ही प्रेरित होता है; निर्माण की भावना उसमें कम रहती है। उसमें

रूप में धारण करती है। 'झंकार' आपकी मुक्तक कविताओं का संग्रह है।

जयशंकर प्रसाद—जयशंकर प्रसाद जी ने साहित्यगत प्रत्येक धारा में समान सिद्धहस्तता से सृजन किया है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक क्या कुछ नहीं लिखा है आपने ! कविता क्षेत्र में मुक्तक और प्रबंध काव्य दोनों प्रकार की रचनाएँ आपने साहित्य को प्रदान की हैं। आपका साहित्य में विशेष महत्व एक कवि, नाटककार और उपन्यासकार के रूप में है। आपने अपने नाटकों में सर्वप्रथम गीतों का प्रयोग किया और नए ढंग के गीत लिखकर नाटकों के कथनोपकथनों से कविता के प्रयोग को समाप्त कर दिया। 'झरना' आपकी मुक्तक कविताओं का बहुत सुन्दर संकलन है और आँसू का तो प्रत्येक पद अपने में पूर्णता लिए हुए है। कामायनी महाकाव्य है और उसमें प्रबन्धात्मकता भी है; उसके पदों और गीतों में मुक्तक का आनंद लाभ किए बिना सरस पाठक नहीं रह सकता।

सूर्यकाँत त्रिपाठी 'निराला'—आचार्य 'निराला' ने काव्य का मुक्तक स्वरूप ही साहित्य को विशेष रूप से प्रदान किया है। आपके विशुद्ध प्रगीतों में 'जुही की कली', 'जागो फिर एक बार', 'विधवा', 'भिक्षुक', 'सरोज स्मृति', इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। निराला जी की मुक्तक कविताओं के संग्रह 'गीतिका' 'परिमल' और 'अनामिका' नाम से प्रकाशित हुए हैं। सौंदर्योपासक कवि होने के नाते आपकी रचनाओं में प्रेम, करुणा और प्रकृति का विशुद्ध निखरा हुआ रूप मिलता है। शृंगारिक भावना और कल्पना के भी आपने सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं। यौवन की उन्मत्तता से फूट पड़ने वाले विकसित सौंदर्य का आपने 'शेफालिका' शीर्षक कविता में बहुत सजीव चित्रण किया है। युग की चेतना भी आपके प्रगतिशील दृष्टिकोण को भुलाकर नहीं चल सकी है और —

खण्डन होता है, मण्डन नहीं। सामाजिक कुरीतियों की बड़ी से बड़ी आलोचना इसमें रहती है। यह खांड चढ़ी हुई कोनैन की गोलियां न होकर कोनैन मिक्सचर का वह कड़वा घूंट होता है जो गले को छीलता हुआ चला जाता है। इस साहित्य में होती है एक नए समाज की निखरी हुई रूप रेखा, नए रीति रिवाज़ और एक नवीन समाज का ढांचा जिसमें पुराना कहने के लिए कुछ अवशेष ही न रहे। यह पुरानी शराब को नए पैमाने में कभी नहीं डालना चाहता, पुराने प्रासाद पर टीप टाप करके उसे नया कहने का ढोंग नहीं रचता। यह चाहता है एक बार सब को ढहाकर स्वच्छ और साफ़ सुथरे मकान बनाना। सुधार पर इसका विश्वास नहीं। यह चाहता है नवनिर्माण! इस प्रकार के साहित्य को समाज से टक्कर लेनी होती है। चिरकाल से चली आती हुई मान्यताओं को ठुकराकर नए मार्ग पर चलने वाले विरले ही माई के लाल समाज की कटु आलोचनाओं का शिकार बनने के लिए सीना खोलकर सामने आते हैं। इस साहित्य का समाज साथ नहीं देता। इसका फलीभूत हो जाना पूर्णरूप से इसकी अपनी शक्ति पर निर्भर करता है। उदाहरण स्वरूप हम कबीर पंथी साहित्य और गोस्वामी तुलसी दास जी के साहित्य को ही ले सकते हैं। कबीर का साहित्य समाज की रूढ़ियों की कटु आलोचना थी और इसलिए उनके काल में न तो समाज ने ही उसे अपनाया और न विद्वानों ने ही। हाँ, यह सत्य अवश्य है कि आज के युग में उसी विचारधारा पर आधारित होकर जब विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गीतांजलि लिखी तो विश्व के प्रतिष्ठित विद्वानों ने उन्हें नोबिल पुरस्कार देकर सम्मानित किया। परन्तु तुलसीदास जी का रामचरित मानस क्योंकि सामाजिक साहित्य था इसलिए वह भारत में जन-जन की वाणी बना, भारत के प्रत्येक मूढ़ और विद्वान ने उसे अपनाया, व्यक्तिगत साहित्य अथवा विपक्षी साहित्य के ठीक विपरीत सामाजिक

साहित्य अथवा सहपन्थी साहित्य है जिसमें समाज की प्रचलित प्रणालियों को अपनाकर उसी के रंग में रँग जाना होता है। यहाँ उदाहरण स्वरूप हम वीरगाथा काल और रीतिकाल के साहित्य को ले सकते हैं जिनमें साहित्य ने समय की प्रगतियों का आँख मींचकर अनुकरण किया है और अपना कोई भी स्वतंत्र दृष्टिकोण सुझाव के रूप में समाज के सम्मुख रखने का प्रयत्न नहीं किया। समाज में वीरता की भावना का उदय देखा तो चारणों ने ढोल बजाकर वीरता की विरुदावलियाँ गानी प्रारम्भ कर दीं और यदि समाज को वासनामय वातावरण में ग्रस्त पाया तो कवियों ने साहित्य को भी मादक मदिरा का रूप दे डाला। इस प्रकार के साहित्य में विद्रोह की ज्वाला नहीं, प्रगति की शक्ति नहीं; हाँ, मादकता अवश्य है और आकर्षण की शक्ति भी। यह साहित्य ऊँचे को नीचा नहीं कर सकता और नीचे को ऊपर ले जाने की भी इसमें क्षमता नहीं। समाज की मान्यताओं को ज्यों का त्यों मान लेना इसने सीखा है। इस धारा के अन्तर्गत हमें सुधारात्मक प्रवृत्ति की रूपरेखा कुछ अवश्य दिखलाई देती है जिसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम से आज के युग में मुंशी प्रेमचन्द जी ने अपने साहित्य में मुखरित किया है और यही इस धारा का [illegible] रूप है। इस प्रकार का साहित्य समाज को जैसा देखता है [illegible] चित्रित करता है। अनेकों स्थानों पर सामाजिक कुरीतियों की उपेक्षा [illegible] साहित्य आदर्शवाद का ढकोसला सामने रखकर एक [illegible] चलता है और समाज का मस्तिष्क अपने को मानकर [illegible] पथ प्रदर्शक बन बैठता है। इस प्रकार के साहित्य को हम [illegible] साहित्य कहेंगे क्योंकि इसमें समाज के धर्म-नीति, [illegible] और मर्यादा को आदर की ही दृष्टि से देखा गया है। [illegible] चित्रित करता है क्योंकि जीवन की प्रगति के वेग [illegible] इसमें वर्तमान नहीं रहती। अपने समय की परि-

स्थितियों से यह साहित्य संतुष्ट रहता है और कहीं पर भी इसमें असंतोष की भावना का दिग्दर्शन लेखक द्वारा नहीं कराया जाता। इस प्रकार के साहित्य में भविष्य की रूपरेखा खोजना स्वप्न तुल्य है। समाज का अनुकरण करने के नाते इस साहित्य में जो प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है वह समाज के आचरण और व्यवहार में पहिले से ही मुखरित होने लगती है। यह साहित्य समाज का पिछलगा बनकर चलता है, अगुआ बनकर अथवा पथ प्रदर्शक बनकर नहीं।

यहाँ हमने साहित्य को दो भागों में विभक्त तो कर दिया परन्तु दोनों की प्रेरणा का मूलस्रोत हर प्रकार से समाज ही ठहरता है। एक समाज के भविष्य की रूपरेखा प्रस्तुत करता है और मस्तिष्क पर विशेष बल देता है तो दूसरा समाज का अनुकरण करके सुधारवादी प्रवृत्ति से काम लेता है, सहृदयता के साथ व्यवहार करना चाहता है, घाव पर मरहम लगा कर ठीक करना चाहता है, एक दम सर्जन बनकर चीरा नहीं लगा डालना चाहता। समाजगत साहित्य को हम प्रतिक्रियावादी साहित्य भी इस नाते से कह सकते हैं, क्योंकि वह समाज की अप्रगतिशील मान्यताओं के सम्मुख सिर झुकाकर उसकी कट्टर रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न होता हुआ नहीं देख सकता। उसके हृदय में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति मोह और ममता का जाल बिछा हुआ होता है और उस जाल को भेदकर आगे क़दम बढ़ाना उसकी शक्ति-सीमा से परे की बात हो जाती है।

साहित्य का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप

व्यक्तिगत और समाजिक साहित्य की रूपरेखा पर दृष्टि डालने के पश्चात् साहित्य के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप को भी समझ लेना आवश्यक हो जाता है। साहित्य पर समाज का प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में आदिकाल से पड़ता आया है। जिस साहित्य में हम प्रत्यक्ष रूप में समाज का प्रभाव पाते हैं वहाँ यह स्वीकार करना आवश्यक

होजाता है कि लेखक ने साहित्य की रचना समाज को ही आधार मानकर की है और उसका हर प्रकार से लक्ष्य समाज ही रहा है। परन्तु जहाँ पर अप्रत्यक्ष रूप से हमें समाज का लेखक द्वारा दिग्दर्शन कराया जाता है वहाँ यही होता है कि लेखक सामाजिक प्राणी होने के नाते अपने साहित्य को सामाजिक प्रभाव से तटस्थ रखने में असमर्थ हो जाता है और उसकी छाया स्वाभाविक रूप से किसी न किसी प्रकार उसके साहित्य में मुखरित हो उठती है। इस प्रकार दोनों ही रूप से साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब आना अनिवार्य हो जाता है।

व्यक्ति और समाज

साहित्य पर संक्षिप्त दृष्टि डाल लेने के पश्चात् व्यक्ति और समाज की भी मूल रूप से परख कर लेनी आवश्यक है क्योंकि बिना व्यक्ति और समाज को समझे समाज और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। मनुष्य एक मननशील प्राणी है और वह आदियुग से निरंतर विकासमय तथा परिवर्तनशील रहा है। विश्व के इतिहास और मानव जाति के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमें कोई भी अन्य प्राणी इतना परिवर्तनशील नहीं दिखलाई देता जिसे मनुष्य के सम्मुख रखा जा सके। मानव की मनन शक्ति ने ही आज तक नवीनतम आविष्कारों को जन्म दिया है और उसने अपने अंतर्जगत तथा बहिर्जगत् दोनों क्षेत्रों में पर्याप्त रूप से प्रगति की है। जो कुछ भी उसने अंतर्जगत् में अनुभव किया है, अध्ययन किया है विचार किया है और परखा है उसे बहिर्जगत में साहित्य के माध्यम द्वारा प्रचारित किया है। इस दिशा में मानव का जो स्पष्टीकरण भा[षा] द्वारा हुआ वह साहित्य बना और वही उसके अन्तर्जगत का कलात्मक इतिहास अथवा साहित्य है।

मानव को अब मैं व्यक्ति के रूप में लेता हूँ और व्यक्ति के विक को समाज कहता हूँ। व्यक्ति ने अपनी उच्छृंखल प्रवृत्तियों को नियं करने के लिए समाज का ढाँचा तैय्यार किया और धर्म तथा समाज नियमों से जकड़कर समाज की रक्षा के लिए एक कटघरा तैयार किय आरम्भ में यह कटघरा व्यक्ति ने अपनी व्यवस्था के लिए तैय्यार कि था और उसके मूल में प्रगति की भावना सजीव रूप से वर्तमान थ रूढ़िवादी विचारधारा उस समय जन्म नहीं ले सकती थी। परन्तु सम की प्रगति के साथ ज्यों-ज्यों वह समाज का वृक्ष पनपकर मोटा होता चल त्यों-त्यों वह धार्मिक तथा सामाजिक कटघरा जो कि प्रारम्भ में उसे सहा देने और सुरक्षा प्रदान करने के लिए उसके चारों ओर बनाया गया उसको जकड़ना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु यह कटघरा सामाजिक विकास न रोक सका और उसे एक दिन टूटकर नीचे गिर जाना पड़ा। कट टूटकर-गिर गया और समाज को प्रगति के लिए मार्ग मिला यह सच थ परन्तु समाज की सुरक्षा का वह सहारा उसके हाथ से जाता रहा औ समाज में अनेकों प्रकार के विकार आने प्रारम्भ हो गए। बड़े-ब विद्वानों को इस समस्या पर फिर विचार करना पड़ा और इसके पश्चा समाज की सुरक्षा के लिए एक और बड़ा कटघरा तैय्यार किया गया। पर एक समय फिर ऐसा आया कि यह कटघरा भी समाज के प्रगतिशील वृ के लिए छोटा पड़ गया और इसे भी टूटकर गिर जाना पड़ा। इस प्रक इन कटघरों के बनने और बिगड़ने के इतिहास की एक लम्बी चौड़ी कहा है जिसे मानव समाज की रूप रेखा अथवा मानव समाज के इतिहास नाम दिया जा सकता है। इन कटघरों के तोड़ने और बनाने का का साहित्य के हथौड़े और छैनियों द्वारा हुआ है; कभी हल्की चोटें पड़ी हैं औ कभी भारी। यह क्रम न केवल भारतवर्ष में ही हमें दिखलाई देता है व विश्व भर के इतिहास को देखने से पता चलता है कि संसार के प्रत्येक दे

में इस प्रकार का इतिहास वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार कुछ अदल बदल के साथ इसी क्रम के अन्तर्गत चला है। इंगलैंड अमेरिका और रूस के साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमारे सामने ऊपर दी गई व्यक्ति-गत साहित्य और सामाजिक साहित्य की रूपरेखा अधिक निखरे हुए रूप में सामने आ जाती है। आज के युग में रूस का साहित्यिक प्राचीन रूढ़ि-वादी सामाजिक कटघरे को छिन्न भिन्न करने में अधिक ज़ोरदार चोट लगाने में सफल हुआ है। जिसमें जितनी अधिक विनाश की शक्ति है उतना ही शीघ्र वह निर्माण भी कर सकता है। कल का अफ़ीम खाने वाला चीन आज अमेरीका से टक्कर लेने की सामर्थ्य अपने में रखता है।

जिस प्रकार व्यक्ति प्रगतिशील है और निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर है उसी प्रकार समाज भी अपना पग आगे ही ले जारहा है। व्यक्ति ही समाज को बल देता है और समाज का बल भी व्यक्ति के ही ऊपर आधारित है क्यों उन्हीं व्यक्तियों के समुदाय का नाम तो समाज पड़ा है। आज के युग में व्यक्ति भी समाज का एक अणु है और उसकी पुष्टि में समाज की दृढ़ता वर्तमान है। व्यक्ति का विचार व्यक्तिगत न होकर सामाजिक रूपरेखा का ही एक अंग होना चाहिए। ऐसा न होने से प्रगति का द्वार बन्द हो जाएगा और मानव का आगे बढ़ता हुआ पग जकड़कर समाज की आशा को, समाज के स्वप्नों को, समाज के संकल्पों को अंधकारमय भविष्य के गर्त में ढकेल देगा। इस प्रकार व्यक्ति समाज का प्रतीक है और समाज व्यक्ति का सामूहिक रूप, जिनके इतिहास की कलात्मक अभिव्यक्ति को हम साहित्य के नाम से पुकारते हैं।

साहित्य और समाज का सम्बन्ध

साहित्यकार एक सामाजिक व्यक्ति है, संसार से तटस्थ रहकर कहीं जंगल में विचरने वाला प्राणी नहीं, जिसका कि समाज के रहन-सहन खान-पान, रीति-रिवाज, आचार-विचार, धर्म-कर्म, पारस्परिक सम्बन्ध और विछोह, मोह-ममता,

काल में ईश्वर-भक्ति के पद गाते हुए भी तुलसी, सूर और मीरा के साहित्य में समकालिक सामाजिक व्यवस्था, उसके रीतिरिवाज, उसकी अच्छाई और बुराइयों का चित्रांकन विस्तार के साथ मिलता है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है जिसमें समाज जब चाहे अपना मुँह देख सकता है। एक यथार्थवादी कलाकार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए ऐसे साहित्य का निर्माण करता है कि जो न तो समाज को पथभ्रष्ट करने वाला ही हो और न समाज की इतनी कटु आलोचना ही करने वाला हो कि जिसे पाठक "व्यर्थ की बकवास" कह कर एक ओर रख दे। सफल साहित्यिक सहानुभति के साथ समाज को परखता है और फिर समाज के सम्मुख ऐसे चित्र प्रस्तुत करता है कि जिन्हें पढ़ते-पढ़ते पाठक यदि कहीं यह अनुभव करे कि उसके मुख पर कालिख लग गई है तो चुपके से जेब से रूमाल निकालकर उसे पोंछ डाले और फिर आगे पढ़ना प्रारम्भ कर दे। इस प्रकार का साहित्य पाठक के हृदय में अपनापन पैदा करके उसके हृदय में स्थान बना लेगा और ऐसे साहित्यिक की थोड़ी बहुत कटुता को भी कड़वा घूंट समझकर पी जाने की क्षमता उसके पाठक में वर्तमान रहेगी।

साहित्य समाज के सम्मुख उसके गत इतिहास की सजीव प्रतिमा साकार रूप में प्रस्तुत करता है, उसके भूत का गौरव तथा कमियाँ और उनके कारण प्रस्तुत करता है, वर्तमान प्रगति अथवा अवनति को सहानुभूति और सद्भावना के साथ चित्रित करता है और भविष्य के लिए सुझाव प्रस्तुत करता है। सफल कलाकार भूत और भविष्य पर दृष्टि डालकर आगामी युग का अनुमान लगा लेता है और यही उसकी दूरदर्शिता का प्रमाण है, जिसकी क्षमता साधारण व्यक्ति में नहीं होती। समाज का पथ प्रदर्शन करना साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं

नष्ट-भ्रष्ट हो गईं, बड़े-बड़े साम्राज्यों के नाम तक अवशेष नहीं रहे, बड़े-बड़े साहित्य, ज्ञान और विज्ञान के भंडारों को जलाकर ख़ाक में मिला दिया गया, और बड़े-बड़े आविष्कारों को तोड़-फोड़कर सर्वदा के लिए संसार से समाप्त कर दिया गया। व्यक्तिगत विशेषताओं ने ही हमें राम, कृष्ण ईसा, मूसा, मुहम्मद साहब, इब्राहीम लिंकन, सेन्ट फ्रांसिस ऑफ़ असीसी, बुद्ध भगवान् तथा महात्मा गाँधी जैसी महान् आत्माएँ प्रदान की हैं और इसी विशेषता के फलस्वरूप विश्व-साहित्य को आदि कवि वाल्मीकि, महाकवि कालीदास, गोस्वामी तुलसीदास, मुं० प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, शेक्सपीयर, मिल्टन, एच० जी० वेल्स, टाल्सटाय, गोर्की इत्यादि जैसे महान् प्रतिभाशाली साहित्यिक कलाकार मिले हैं।

व्यक्ति और साहित्य

व्यक्ति का अध्ययन कर लेने के पश्चात् हम फिर साहित्य पर आते हैं और साहित्य का व्यक्ति के सम्पर्क में अध्ययन करने से पूर्व हम यह खोज करते हैं कि यह कितने प्रकार का हो सकता है। समाजगत साहित्य, राष्ट्रीय साहित्य शृंगारिक साहित्य, भक्ति-साहित्य, मनोरंजक साहित्य और इसी प्रकार साहित्य के अन्य कुछ छोटे-मोटे रूपों का भी विश्लेषण किया जा सकता है। परन्तु इन सभी रूपों में व्यक्ति की उपेक्षा करके साहित्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। व्यक्ति साहित्य का प्रधान अंग है और यह सच है कि प्रत्येक लेखक का उसके जीवन में सबसे अधिक सम्पर्क उसके अपने व्यक्ति से ही होता है और यही कारण है कि वह अपने साहित्य में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अपने से अधिक सुन्दर रूप में किसी भी अन्य व्यक्ति का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। लेखक जब किसी रचना को लिखने के लिए बैठता है तो उसकी अपनी आत्मा की संतुष्टि उसके सम्मुख अपने सबसे निखरे हुए रूप में प्रस्फुटित होती है। जब तक वह उसकी पूर्ति कर लेने में सफल

नहीं हो पाता तब तक वह कोई रचना लिख ही नहीं सकता। इससे पूर्व कि लेखक किसी रचना को लिखे, उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उसके विषय का पूर्ण सम्पर्क अपनी आत्मानुभूति से करा दे।

साहित्यिक की रचना के प्रत्येक शब्द और वाक्य में उसके जीवन का निखरा हुआ प्रतिबिम्ब झलकता है। वह किसी भी अन्य व्यक्ति अथवा समस्या को प्रभावित करता अथवा उससे प्रभावित होता है तो उसका स्पष्टीकरण उसके साहित्य में बोल उठता है। साहित्यकार की आत्मा की यह वही पुकार है जो आज के व्यक्ति का कल के व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करती है, कल की समस्या को आज की समस्या पर तौलती है और इस प्रकार एक भविष्य की ऐसी रूपरेखा तैय्यार करती है कि जिसमें व्यक्ति का जीवन निरंतर विकास के पथ पर अग्रसर रहता है और साहित्य तथा व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का ऐसा गठबंधन बन जाता है कि जिसे पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। दोनों का समन्वय होकर एकीकरण हो जाता है और भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

साहित्य का सृजन

साहित्य का सृजन लेखक की आत्मा का वह मुक्त प्रवाह है कि जिसमें वह रचना के बन्धनों में बँधकर भी मुक्त रहता है और निरंतर आनंद और मंगल का प्रसार करता है। कवि कल्पना का आश्रय लेकर संसार के बंधनों से ऊपर उठ जाता है और कुछ क्षणों के लिए पाठक को भवबाधा से मुक्ति-प्रदान कराता है। श्री मम्मटाचार्य ने 'भारती' को आनन्दमय और स्वतन्त्र बतलाया है। लेखक अपने पाठक को इस लोक से उठाकर दूसरे लोक में ले जाता है और वहाँ अपनी कल्पना का आश्रय देकर उसके मस्तिष्क से उन सब विचारों को नष्ट कर देता है जो कि उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधक होते हैं। रामचरित मानस का पाठक एक बार

अध्ययन करता है और अनेकों परिस्थितियों में अपनी अभिव्यंजना शक्ति द्वारा उसके भावों का स्पष्टीकरण करता है। काव्य में कलाकार व्यक्तित्व पर निखार लाकर उसका कलात्मक रूप पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है। वह विज्ञान की भाँति इतिवृत्तात्मक (matter of fact) चित्रण नहीं करता। साहित्य में सुन्दर को असुन्दर और असुन्दर को सुन्दर बनाने की क्षमता होती है। साहित्यिक चित्रण कभी भी वास्तविकता का नंगा थोथा रूप अपने पाठक के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता, वह उसे सजाता है, बनाता है, और सुसंस्कृत रूप प्रदान करता है।

साहित्य का प्रत्येक लेखक अपनी शैली के नाते भी अपने व्यक्तित्व की भाव-व्यञ्जना अपने साहित्य में प्रस्तुत करता है।

लेखक-की शैली कबीर और बिहारी दोनों का साहित्य दोहों में लिखा गया है, परन्तु एक का साहित्य दूसरे के साहित्य से सर्वथा पृथक् है। लेखक चाहे समाज का चित्रण करे अथवा राष्ट्र का, परन्तु वह सर्वथा एक व्यक्ति ही रहेगा और यही कारण है कि उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से अछूता उसका साहित्य कभी नहीं रहीं सकता। इस प्रकार साहित्य का व्यक्तित्व की भाव-व्यंजना से बहुत गहरा सम्बन्ध है, और दोनों का अप्राथक्यीयकरण स्वाभाविक है।

(३)

काव्य के विभिन्न रूप

काव्य क्या है ?

काव्य (Creative Literature) कवि के अनुभूति और अभिव्यक्ति पक्ष के स्वाभाविक समन्वय का रूप है। जिसमें कलाकार का भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों ही समान रूप से मुखरित हो उठते हैं। साहित्य के आचार्यों ने साहित्य की समीक्षा करने के लिए काव्य की कसौटी तैय्यार करते समय काव्य के चार प्रधान तत्वों (रागात्मक तत्व, कल्पनात्मक तत्व, बुद्धि तत्व और शैली) का निरूपण किया है। रागात्मक तत्व साहित्य में रस घोलता है, कल्पनात्मक तत्व उसमें चमत्कार उत्पन्न करता है, बुद्धि तत्व लेखक के भाव पक्ष और कला पक्ष में सामंजस्य स्थापित करके एक उचित सीमा तक उनका विकास होने में सहायक होता है और शैली तत्व काव्य को उसकी बाहरी रूप रेखा प्रदान करता है। इस प्रकार यह चारों ही तत्व किसी-न-किसी रूप में कवि के भाव पक्ष और कला पक्ष के ही सहायक अंग हैं और आवश्यकतानुसार उन्हें बल देते हैं, उन्हें सरसता प्रदान करते हैं, उनमें चमत्कार उत्पन्न करते हैं और उनमें काव्य के बहिरंग सम्बन्धी गुणों का समावेश करते हैं।

काव्य का प्राण

ऊपर लिए गए चार प्रधान तत्वों को लेकर शब्द और अर्थ के सहारे द्वारा काव्यकार साहित्य का ढाँचा प्रस्तुत करता है। परन्तु यह सब अभी तक निर्जीव पुतले के ही समान है जब तक इनमें प्राणों का संचार न हो। अब

विचारणीय यह है कि काव्य का प्राण अथवा आत्मा क्या है ! काव्य शास्त्र के आचार्य श्री भरत मुनि और विश्वनाथ जी रस को काव्य का प्राण मानते हैं, रस को साहित्य की आत्मा कहते हैं। इस मतावलम्बियों को रसवादी आचार्य कहकर साहित्य में पुकारा गया है। दूसरे मतावलम्बी चमत्कारवादी आचार्य हैं जिनमें प्रधान स्थान श्री दण्डी, भामह और उद्भट इत्यादि का है। यह अलंकारों को काव्य की आत्मा मानते हैं। इन दो प्रधान विचार धाराओं के अतिरिक्त आचार्य कुंतक या कुन्तल ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। आनन्द वर्धनाचार्य जी ने ध्वनि को काव्य का प्राण कहा है। कुछ आचार्य बीच में ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने काव्य के इन सभी गुणों के महत्व को स्वीकार किया है और एक दूसरे का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। यह खींच-तान एक लम्बे युग तक साहित्य में चलती रही है। हिन्दी साहित्य में आचार्य केशवदास जी ने अलंकारवादी प्रवृत्ति को अपनाया परन्तु साहित्य उसे न अपना सका। इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी लिखते हैं, "उन्होंने हिन्दी पाठकों को काव्यांग-निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी; उस उत्तर दशा का नहीं जो आनंदवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई। भामह और उद्भट के समय में अलंकार और अलंकार्य्य का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था। रस, रीति, अलंकार, सबके लिए अलंकार शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कवि-प्रिया' में भी पाते हैं। उसमें 'अलंकार' के 'सामान्य' और 'विशेष' दो भेद करके 'सामान्य' के अंतर्गत वर्ण्य विषय और 'विशेष' के अंतर्गत वास्तविक अलंकार रखे गए हैं।" (पृष्ठ २३३ "हिन्दी साहित्य का इतिहास)।

हिन्दी साहित्य में आचार्य केशवदास जी के पश्चात् जो परम्परा स्थायी रूप से चली उसमें आचार्यों ने उस परिष्कृतमार्ग को अपना या

जिसमें अलंकार और अलंकार्य्य में स्पष्ट भेद था। आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी द्वारा सर्व प्रथम हिन्दी में इस मत का प्रतिपादन हुआ और हिन्दी के अलंकार ग्रंथों को 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' के आधार पर निर्मित किया गया। 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' ने भी हिन्दी के रीति-ग्रंथों को काफी प्रभावित किया है। इस प्रकार हिन्दी में आचार्यों ने प्रधान रूप से रस को ही काव्य की आत्मा माना है। रस सम्प्रदाय ने काव्य में अनुभूति पक्ष को प्रधानता देकर अभिव्यक्ति पक्ष को काव्य का पोषक तथा सहायक अंग माना है। अलंकारवादियों की अभिव्यक्ति को प्रधानता देने वाली भावना का साहित्य में एक क्रमिक ह्रास दृष्टिगोचर होता है और वास्तव में यह सच भी है कि काव्य के बहिरंग की पुष्टि करने वाला साधन कभी भी काव्य की आत्मा नहीं कहला सकता। सभी आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार काव्य की परिभाषाएँ दी हैं।

भारतीय विद्वानों की ही भांति पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य के चार तत्वों का निरूपण किया है। समय-समय पर अपने-अपने विचार के अनुसार आचार्यों ने उनमें से किसी भी एक तत्व को प्रधानता दे डाली है और भारतीय विद्वानों की भांति उनमें भी मतभेद चलता रहा है। शेक्सपीयर ने अपने समय की प्रवृत्ति के आधार पर चमत्कार को प्रधानता दी है और इस काल में इंग्लैण्ड के अन्दर चमत्कारवादी साहित्य का ही सृजन भी हुआ है। इस काल का उपन्यास-साहित्य कोरा चमत्कार का भण्डार है। वर्ड्सवर्थ, शैले, बायरन, कीट्स इत्यादि कवियों ने भावना पक्ष पर ही बल दिया और मिल्टन में हमें अभिव्यक्ति की प्रधानता मिलती है। धीरे-धीरे साहित्य भावना पक्ष की ओर से हटकर बुद्धि पक्ष की ओर बढ़ा है और आज के युग में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही अंग्रेजी साहित्य का प्रधान लक्ष्य बन गया है।

इस प्रकार विविध विचार धाराओं को सामने रखते हुए उच्चकोटि का साहित्य वही कहला सकता है जिसमें ऊपर दिए गए चारों तत्वों में से किसी एक में भी न्यूनता न हो। जो लेखक चारों में समान रूप से सामंजस्य स्थापित करता हुआ चलेगा वह सुन्दरतम काव्य रचना में सफल हो सकेगा और किसी भी दिशा में कोई कमी आ जाने पर काव्य अधूरा ही रहेगा। उच्चकोटि के काव्य में अनुभति और अभिव्यक्ति दोनों का ही विशेष महत्व है क्योंकि एक के बिना दूसरे का रंग फीका पड़ने लगता है।

संक्षिप्त

काव्य के रूप और प्रकार

काव्य और काव्य के चार प्रधान तत्वों पर संक्षेप में विचार कर लेने के पश्चात् अब हमें काव्य के रूपों और उनके प्रकारों पर विचार करना है। काव्य को किन-किन रूपों में विभाजित किया जा सकता है और वह रूप कितने प्रकार के होते हैं। ऐसा ज्ञान हुए बिना काव्य के विस्तार को नहीं पहिचाना जा सकता। विद्वानों ने अपनी आत्मानुभूति के स्पष्टीकरण के लिए साहित्य को माध्यम चुना है और साहित्य को रूप देने के लिए भाषा का आधार ग्रहण किया है। भाषा चाहे वह कोई भी क्यों न हो, उसके दो मोटे रूप बन गए हैं एक पद्य और दूसरा गद्य।

भाषा के दो रूप

आदि युग में काव्य का प्रारम्भ पद्य से हुआ। इसका प्रधान कारण यही है कि पद्य को कण्ठस्थ करने में गद्य की अपेक्षा सुगमता रहती थी। पद्य के अंतर्गत महाकाव्य, खंड-काव्य और मुक्तक तीन प्रकार का काव्य आता है। गद्य-काव्य के अंतर्गत हम उपन्यास, कहानी, जीवनी, निबन्ध, गद्य-गीत इत्यादि को लेते हैं। काव्य का तीसरा और बहुत महत्वपूर्ण अंग नाटक और एकांकी नाटक है जिसमें गद्य और पद्य दोनों का ही प्रयोग होता है। नाटकीय क्षेत्र में हमें संस्कृत साहित्य तथा भारतेन्दु जी

के युग तक कविता की प्रधानता मिलती है परन्तु ज्यों-ज्यों विश्व-साहित्य के उत्थान में गद्य का बोलबाला हुआ त्यों-त्यों नाटक भी कहीं दो-चार गीतों के अतिरिक्त गद्य में ही लिखे जाने लगे।

काव्य के इन तीनों रूपों को रीतिकारों ने दो भागों में विभाजित किया है। (१) श्रव्य-काव्य और दूसरा दृश्य-काव्य।

दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य

श्रव्य-काव्य के अंतर्गत कविता, उपन्यास, कहानी, जीवनी इत्यादि आते हैं और दृश्य-काव्य के अंतर्गत नाटकों का स्थान हैं, जिनका अभिनय रंगमंच पर होता है और दर्शक अपने नेत्रों द्वारा देखकर जिसका आनन्द लाभ करते हैं।

काव्य का अध्ययन करने के लिए ऊपर हमने उसे भारतीय परम्परा के आधार पर विभिन्न रूपों में परखा है। अब

पाश्चात्य मत

साहित्य समीक्षक के नाते हम पाश्चात्य परम्पराओं पर भी एक दृष्टि डालते हैं। पाश्चात्य समीक्षकों ने काव्य को दो प्रधान रूपों में विभाजित किया है। एक विषय गत (Objective) जहाँ विषय और सृष्टि को प्रधान आधार मानकर रचना होती है और दूसरा विषयीगत (Svbjective) जहाँ कवि का व्यक्तित्व रचना में अधिक प्रधानता के साथ विकसित होता है। विषयीगत काव्य की रचना मुक्तक पदों अथवा गीतों (Lyrics) में मुखरित हुई है और विषयगत प्रकथनात्मक (Narrative) काव्यों में। गोस्वामी तुलसीदास जी के महाकाव्यों और खंडकाव्यों को हम प्रकथनात्मक रचना कहते और जिस प्रकार के गीतों का सृजन महादेवी वर्मा, मीरा, विद्यापति संस्कृत में श्री जयदेव ने किया वह विषयीगत रचनाओं के अंतर्गत हैं। भारत की भाँति पाश्चात्य देशों में हमें खंडकाव्य देखने को मिलते। वहाँ तो विषयगत साहित्य में केवल महाकाव्यों (Epic

ही प्रधानता रही है। विषयगत और विषयीगत काव्य-विभाजन को ही आधार मानकर हम उपन्यास और कहानी का भी अध्ययन, विभाजन और स्पष्टीकरण कर सकते हैं। यहाँ इस विभाजन के मूल को समझ लेने में विद्यार्थी जब इसे गहराई के साथ अध्ययन करें तो उन्हें यह समझ लेना होगा कि काव्य का विभाजन कभी भी दो टुकड़े करके नहीं किया जा सकता। अर्थात् विषयीगत साहित्य में विषय गत भावना और विषयगत साहित्य में विषयीगत संवेदना का नितांत अभाव होना सर्वथा असम्भव है ! दोनों में एक दूसरे की रूपरेखा छिपी हुई रहती है। साहित्य समीक्षक इनका विभाजन केवल तत्वों की प्रधानता के ही आधार पर करता है, किसी तत्व के सर्वथा लोप हो जाने पर नहीं।

(४)

कविता का अध्ययन

कविता

कविता काव्य का प्राथमिक रूप है जिसमें कवि ने अपने अंतर्जगत का बहिर्जगत से सामंजस्य स्थापित किया है। क्रौंच पक्षी के जोड़े में से व्याध ने एक को मार डाला। यह दृश्य देखकर आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में संवेदना उत्पन्न हुई और कविता ने जन्म लिया। यहाँ व्यक्ति और विषय दोनों का समान रूप से प्रस्फुटन हुआ है और उसी ने कविता का रूप धारण किया। लेखक ने कविता को अपने अंतर्जगत और बहिर्जगत के बीच सामंजस्य स्थापित करने का माध्यम ... तथा बुद्धि के बल से इसका विकास किया।

... अभिव्यक्ति

यह सीढ़ी बनकर तैयार हो गई जिस पर चढ़कर आज पाठक आकाश कुसमों के निकट पहुँच कर साहित्यानंद में रस लेता हुआ परमानंद को प्राप्त कर सकता है। महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक इत्यादि यह सब इसी सीढ़ी के डंटे हैं। प्रत्येक कलाकार ने अपनी अपनी अनुभूति और अपनी अपनी बुद्धि की कसौटी साहित्य में अपनी पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत की है और यही उनके जीवन का उनके समय की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक व्यवस्था का निचोड़ है जिसमें मानव जाति का वह अमर साहित्य संनिहित है जिसने बड़े-बड़े साम्राज्यों को मिट्टी के खिलौनों की भाँति बनते और बिगड़ते देखा है, बड़े-बड़े धर्म की रूप रेखाओं को पनपते, विकसित होते, छा जाते और समूल नष्ट हो जाते हुए देखा है परन्तु साहित्य ने सर्वदा ही मानव और मानव की मानवता को सुरक्षा प्रदान की है।

कविता जीवन की व्याख्या है

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध आलोचक मेथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की समालोचना (Criticism of life) कहा है। जीवन की समालोचना और जीवन की व्याख्या दोनों वाक्य पर्यायवाची अर्थ ग्रहण करते हैं। मेथ्यू आर्नल्ड ने यह समस्या साहित्य को प्रश्न के रूप में प्रदान की हैं उत्तर के रूप में नहीं। वास्तव में यह वाक्य उस काल के होमरगेटे शेक्सपीयर इत्यादि की अपने साहित्य में की गई व्याख्या के ऊपर कटु व्यंग्य था। काव्य या इतिहास नहीं है, अर्थशास्त्र नहीं है, गणित नहीं है, इसमें इतिवृत्तात्मकता से अधिक व्यंजना रहती है। परन्तु इसके साथ ही साथ प्रतिनिधि कलाकार अपनी रचनाओं को जीवन के स्पष्टीकरण से दूर भी नहीं ले जा सकते। गत अध्याय में

हम इस समस्या पर प्रकाश डाल चुके हैं। आर्नल्ड ने स्वयँ काव्य को दूसरे स्थान पर (truth of Substance) भी कहा है। कवि का व्यक्ति से पहिले सम्बन्ध स्थापित होता है और बाह्य जगत से बाद में इस लिए कवि के साहित्य में सर्वप्रथम अभिव्यक्ति जिस वस्तु की आती है वह व्यक्ति का अपनत्व है। कवि अपने काव्य में जीवन की व्याख्या को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ले ही आता है, नहीं तो यों कहें कि वह उसके अन्दर किसी न किसी रूप में झलक ही उठता है तो अधिक उत्तम होगा।

कविता के विविध रूप

प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य

प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य में यही अन्तर है कि प्रबन्ध काव्य में छंदों का एक नियम होता है और उस नियम के अनुसार कवि अपनी कथा को उन छंदों में पिरोता हुआ चला जाता है। प्रबन्धकाव्य में कवि के तनिक भी बहक जाने पर लड़ी के टूटने का भय रहता है और इस लड़ी के एकबार टूट जाने पर इसके मोती इधर-उधर बिखर जाते हैं। यहाँ उदाहरण स्वरूप हम गोस्वामी तुलसीदासजी के मानस और कविवर केशव की रामचंद्रिका को ले सकते हैं। दोनों प्रबन्ध काव्य होने पर भी जो सगुण प्रबन्धात्मकता मानस में मुखरित हुई है। वह रामचन्द्रिका में प्रस्फुटित नहीं हो सकी। प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खंडकाव्य दोनों ही समानरूप से आ जाते हैं। जिस प्रकार महाकाव्य में जीवन की व्यापक समीक्षा रहती है उसी प्रकार खंडकाव्य में जीवन के किसी पहलू को लेकर रचना की जाती है। मुक्तक काव्य में किसी भी प्रकार की तारतम्यता का

कोई प्रतिबन्ध लेखक के सम्मुख नहीं रहता। वह मुक्त होता है और जिस दिशा में भी चाहे अपने भावों और विचारों को संचालित कर सकता है। मुक्तक काव्य के लेखक के छंद एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते और उन्हें उलटने पलटने में कवि पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है परन्तु प्रबन्ध काव्य का लेखक अपने छंदों के क्रम को ढीला नहीं कर सकता। जिस प्रकार तुलसी दास जी का मानस, जायसी का पद्मावत प्रबन्धकाव्य के उदाहरणहैं उसी प्रकार आधुनिक गीत और सूरदास के पद मुक्तक काव्य के सुन्दर रूप हैं।

महाकाव्य

महाकाव्य, जिसे अंगरेजी साहित्य में ऐपिक (Epic) के नाम से पुकारा जाता है, भारतीय समीक्षा पद्धति के अनुसार बन्ध की दृष्टि से पूर्वापर की लडीबद्धता लेकर पलता है। लडी की यह तारतम्यता केवल प्रबन्ध काव्य में ही मिलती है, मुक्तक काव्य में नहीं। किसी भी महाकाव्य का प्रबन्ध काव्य होना अनिवार्य है। क्योंकि जीवन की व्यापक समीक्षा प्रबन्ध के बन्धन में बाँधकर ही प्रस्तुत की जा सकती है, कल्पना और भावना को भूलकर स्वतन्त्र प्रवाह दे देने पर नहीं। भारतीय साहित्य के समीक्षकों ने महाकाव्य के जिन गुणों का निर्देशन किया वह संक्षेप में निम्न लिखित हैं :—

१. महाकाव्य प्रबन्ध-काव्य होना चाहिए। जिसकी कथा में तारतम्यता हो और भाव। विचार तथा जीवन की लड़ी कहीं पर विशृंखल न होने पाए।

२. महाकाव्य के छंदों में एक नियम होना अनिवार्य है। जिनके क्रम में लेखक अपनी रुचि के अनुसार फेर बदल नहीं कर सकता।

३. महाकाव्य की कथा सर्गों में विभाजित होकर चलनी चाहिए।

४. महाकाव्य का नायक कोई धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न पुरुष अथवा देवता होना चाहिए। ऊँचे आदर्शों वाले राजा को भी महाकाव्य का नायक बनाया जा सकता है।

५. महाकाव्य का कथानक या तो किसी लोकप्रसिद्धकथा पर आश्रित होना चाहिए अथवा इतिहास के आधार पर उसकी कल्पना की जाए। इसकी कथा में व्यक्तिगत विशेषता प्रधान रूप से न होकर जातिगत विशेषता होनी चाहिए।

६. महाकाव्य के प्रधान रस शृंगार, वीर और शान्त ही हो सकते हैं अन्य कोई रस नहीं।

७. महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण होना अनिवार्य है।

८. महाकाव्य में कम-से-कम आठ सर्ग होने चाहिए।

८. महाकाव्य में वस्तु निर्देश अवश्य होना चाहिए।

१०. महाकाव्य के एक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग होना चाहिए और सर्ग के अंत में वह बदल जाना चाहिए।

११. महाकाव्य में दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुणगान होना चाहिए।

१२. महाकाव्य में उषा, प्रातःकाल, मध्यान्ह, संध्या, रात्रि, सूर्य, चन्द्रमा, वन, पर्वत, ऋतु, सरिता, समुद्र, आखेट, संग्राम, यात्रा इत्यादि का विस्तार के साथ वर्णन होना चाहिए।

महाकाव्य में लेखक एक आदर्श पुरुष के जीवन चरित्र को लेकर उसका विविध परिस्थितियों में प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करता हुआ चित्रण करता है जिसमें विषय को बाँधकर इस प्रकार संचालित किया जाता है कि अनुभति और अभिव्यक्ति एक संतुलित परिभाषा के अन्तर्गत विकास की ओर अग्रसर हो। इस संतुलन की भावना को यदि लेखक संचालित करने में असफल होकर किसी भी एक शक्ति की बाग-डोरें को ढीली छोड़ देगा तो काव्य में दोष आजाएगा, काव्य ढीला और उथला बन जाएगा और उसकी प्रभावात्मकता नष्ट हो जाएगी। आचार्य केशव की रामचंद्रिका का उदाहरण हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं। राम-

चन्द्रिका को लिखते समय कवि अनुभूति से अपना संबंध विच्छेद करके अभिव्यक्ति के पीछे आँख मींचकर चल दिया है और इसी कारण के फलस्वरूप रामचंद्रिका की प्रबन्धात्मकता और महाकाव्यात्मकता में कई सबल दोष आगए हैं। एक और दूसरी बात जो महाकाव्य के लेखक के लिए ध्यान देनी अनिवार्य है, वह यह है कि महाकाव्य की रचना करते समय महाकाव्य की रचना ही उसका लक्ष्य होना चाहिए। यदि ऐसा न समझकर लेखक ने महाकाव्य को अपने किसी अन्य लक्ष्य की पूर्ति का साधनमात्र बनाया तो उसका वह महाकाव्य कला की कसौटी पर संशयात्मक रूप से ही खरा उतर सकेगा। रामचंद्रिका में आचार्य केशव का प्रधानलक्ष्य महाकाव्य की रचना, अपने पात्रों का विकास, प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करना इत्यादि कुछ न रहकर पांडित्य प्रदर्शन मात्र ही रहा है। यमक और श्लेष का निरर्थक प्रयोग केवल आचार्य की पदवी प्राप्त करने के लिए किया गया है। इसके ठीक विपरीत गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने मानस में अपने लक्ष्य को कहीं भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरणों से पृथक् नहीं होने दिया और यही कारण है कि वह अपने नायक का वह अमर चरित्र हिन्दी साहित्य ही नहीं भारत के जन-जन को प्रदान कर गए कि जो घोर आपत्ति के युग में भी मुसलमानों की तलवारों के नीचे हिंदुत्व और भारतीय संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ हुआ।

महाकाव्य के दो प्रकार

महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं एक कलात्मक (Epic of Art) और दूसरे प्राकृतिक (Epic of growth)। कलात्मक महाकाव्य के उदाहरण के रूप में हम जयशंकर प्रसादजी की सुप्रसिद्ध रचना कामायनी को ले सकते हैं अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन का पैराडाइज़ लास्ट (Pa-radise lost) भी इसी कोटि के ग्रंथों में आता है। प्राकृतिक महाकाव्य वह ग्रंथ हैं जिनमें किसी आख्यान या इतिहास को लेकर काव्य

चना होती है। वाल्मीकि की रामायण इस कोटि का प्रतिनिधि ग्रंथ

संक्षिप्त

जहाँ तक महाकाव्य के साधारण नियमों और उनकी प्रधान प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है वहाँ तक महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य और भारतीय मान्यताओं में बहुत दूर तक सामंजस्य की भावना मिलती है। इतिहास अथवा आख्यान के क प्रसिद्ध व्यक्ति को महाकाव्य के नायक स्वरूप ग्रहण कर लेने से व्य में लोक रंजकता आजाती है और पाठक नायक से मानसिक दूरी Psychological distance) अनुभव करके उसके अन्दर मत्कार और रसानभूति प्राप्त कर लेता है। नायक के व्यक्तित्व, उसके उच्चा-दर्श, उसके चरित्र की महानता और लेखक की कला-कुशल तूलिका द्वारा चित्रित उस महाकाव्य के प्रति पाठक श्रद्धा से झुक जाता है और उसके दोषों तक न पहुँचकर कला की चमत्कृत अनुभूति में विचरण करके आनंद लाभ करता है। महाकाव्य का लेखक नायक के चरित्र द्वारा जाति की जीवन-प्रवृत्तियों का चित्राँकन करता है और उसी में लोक रस संचरित होकर जातीयता का प्रतिनिधि हो जाता है। यह पाश्चात्य आदर्शों की विशेषता है। परन्तु इसकी उपेक्षा हमें भारतीय आदर्शों में भी नहीं मिलती। वाल्मीकि रामायण का राम भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। और अपने युग के चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। 'होमर का इलियड' में भी इसी प्रकार जातीयता का ही चित्रांकन मिलता है। प्राचीन महाकाव्यों के अन्दर उस काल की जातीय-व्यवस्था, उस काल के समाज और उस काल के राष्ट्र की वह कलात्मक अभिव्यक्ति है कि जिसे धरोहर के रूप में इन ग्रंथों के लेखक समाज के पास छोड़ गए हैं। यह महाकाव्य जाति के क्रमिक विकास की व्यंजना प्रधान रसात्मक कहानियाँ हैं जिनमें संस्कृति के अनुरूप रत्न सागर-तल में विलुप्त मोतियों, की

भाँति सुरक्षित रखे हुए हैं। गोता लगाकर खोज लाने वाले की आवश्यकता है।

महाकाव्य का प्रसार

संस्कृत के महाकाव्य

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण, 'शिशुपाल वध', 'रघुवंश' और 'किरातार्जुनीय' विशेष उल्लेखनीय महाकाव्य हैं। इनमें वाल्मीकि रामायण को हम प्राकृतिक महाकाव्य और शेष दोनों को कलात्मक महाकाव्य की श्रेणी में रखते हैं। भारतीय साहित्य समीक्षक महाभारत को महाकाव्य नहीं मानते। परन्तु पाश्चात्य ऐपिक (Epic) की परिभाषा के अन्तर्गत महाभारत भी महाकाव्यों की ही श्रेणी में आता है।

संस्कृत के महाकाव्यों में विशेष ख्याति प्राप्त ग्रंथ 'रामायण' और 'रघुवंश' ही है। 'रघुवंश' महाकवि कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इस ग्रंथ में महाराज दिलीप, रघु और राम को विशेष महत्व देकर इस वंश के कई राजाओं के लोकोत्तर चरित्रों का कलात्मक और काव्यात्मक चित्रण किया गया है। 'किरातार्जुनीय' का कथानक इसके लेखक श्री भारवि ने महाभारत से लिया है। यह अठारह सर्गों में विभक्त महाकाव्य है, जिसमें अर्जुन के किरातवेश में भगवान शंकर से किए गए युद्ध का ओजस्वी वर्णन है! इसमें शृङ्गार-रस गौण और वीर-रस का प्राधान्य है। द्रौपदी पांडवों को कौरवों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करती है।

शिशुपाल वध—यह महाकवि माघ का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है और इसी ग्रंथ के आधार पर विशेष रूप से संस्कृत साहित्य में उनका बहुत

महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ का कथानक भी कविवर माघ ने महाभारत आख्यान से ही लिया है। इस महाकाव्य में चेदि-नरेश महाराज शिशुपाल का वध दिखलाया गया है और महाराजाधिराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बहुत कलापूर्ण चित्रण किया गया है। इस ग्रंथ की वर्णन शैली बहुत कौशलपूर्ण है। इस महाकाव्य में कुल सोलह सौ पचास श्लोक हैं और समस्त ग्रंथ को कवि ने बीस सर्गों में विभाजित किया है। शिशुपाल का वध इस ग्रंथ की सबसे महत्वपूर्ण घटना है और इसीलिए कवि ने इसी घटना के आधार पर इस ग्रंथ का नामकरण किया है। उक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त श्री हर्ष कवि का 'नैषध-चरित्र' भी संस्कृत साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस महाकाव्य में राजा नल और दमयंती की कथा को लेकर काव्य की रचना की गई है।

हिन्दी के महाकाव्य

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ वीर गाथा काल का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य से होता है और वह है वीरगाथाकाल का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' यह वीर गाथा काल का प्रतिनिधि ग्रंथ है और इसका लेखक चन्दवरदाई इस युग का प्रतिनिधि कवि है। यह ६६ समय (अध्याय) का एक बृहत् ग्रंथ है। इसमें दोहा, तोमर, नाटक तथा रोला इत्यादि आर्य-छंदों का प्रयोग किया गया है। ग्रंथ में आद्योपांत महाराज पृथ्वीराज के यशस्वी चरित्र का वीरतापूर्ण चित्रण किया गया है। कवि ने युग की हिन्दुत्व-भावना के प्रतीक स्वरूप महाराज पृथ्वीराज को ग्रहण किया है। इस ग्रंथ में कल्पना की उड़ाने और उक्तिपूर्ण अलंकारों का लेखक ने सुन्दर प्रयोग किया है। युद्ध-कला का चित्रण बहुत सजीव है और अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया गया है। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विषय में हिन्दी के

विद्वान् सर्वदा मतभेद के साथ विचार करते आए हैं। एक पक्ष इसे प्रामाणिक मानता है और दूसरा अप्रामाणिक। वास्तव में पुस्तक को आद्योपांत देखने पर यह ज्ञात अवश्य होता है कि यह समस्त ग्रंथ एक ही समय का लिखा हुआ नहीं है। पुस्तक की भाषा कहीं पर संस्कृत गर्भित हो जाती है और कहीं पर उसमें उर्दू के कठिन शब्दों की भरमार दिखलाई देती है। इस ग्रंथ को अप्रामाणिक मानने वाले विशेष उल्लेखनीय विद्वान् पं० गौरीशंकर, हीराचंद ओझा, श्यामलदास और मुरारीलाल हैं। तथा इसे प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् पं० मोहनलाल विष्णुलाल जी, मिश्रबन्धु और बा० श्यामसुन्दरदास जी हैं। इसी युग का जयानाक नामक काश्मीरी कवि बहुत प्रसिद्ध हुआ है। जिसने 'पृथ्वीराज विजय' नामक नाटक की रचना की है। इस कवि ने अपने ग्रंथ में कहीं पर भी चंदबरदाई के विषय में कुछ नहीं लिखा। खैर, कुछ भी सही, पृथ्वीराज रासो उस काल का एक बृहद्महाकाव्य है और इसे हम प्राकृतिक महाकाव्यों की श्रेणी में ले सकते हैं।

पद्मावत—वीर गाथा काल के पश्चात् हम हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में आते हैं। और इस युग में हिन्दी कवियों ने साहित्य को 'पद्मावत' और **'रामचरित मानस'** दो महाकाव्य प्रदान किए। 'पद्मावत' की रचना सन् १५२८ ई० के लगभग बाबर के समय में हुई। 'पद्मावत' का लेखक कविवर मलिक मोहम्मद जायसी एक प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी का शिष्य था। पद्मावत की हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः सभी फ़ारसी लिपि के अन्दर ही प्राप्त हुई हैं। 'पद्मावत' में प्रेम गाथा की परम्परा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त मिलती है। यह उस परम्परा में सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी कहानी में भी विशेषता है। इसमें इतिहास और कल्पना का योग है। चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिन्दू-हृदय के मर्म को स्पर्श करने

वाला है। "जायसी ने यद्यपि इतिहास प्रसिद्ध नायक और नायिका ली है, पर उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इस रूप में इस कहानी का पूर्वार्ध तो बिल्कुल ही कल्पित है और उत्तरार्ध ऐतिहासिक आधार पर है" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में 'पद्मावत' का स्थान 'रामचरित मानस' के पश्चात् आता है और प्रेमरस का तो यह सर्वश्रेष्ठ काव्य है। समस्त ग्रंथ विशुद्ध अवधी भाषा में लिखा गया है। इस ग्रंथ में प्रेम तत्व का प्रतिपादन सूफी सिद्धांतों को आधार मानकर किया गया है। 'पद्मावत' का नायक रत्नसेन नागमती रूपी माया से मुक्त होकर अनेकों कष्टों को सहन करता हुआ पद्मावती के रूप में ईश्वर से जाकर मिलता है। इस ग्रंथ में कथा और चरित्र-चित्रण दोनों ही क्षेत्रों में कवि की कल्पना ने खूब उड़ान ली है और कवि-हृदय की सरसता इस महाकाव्य की प्रत्येक पंक्ति से फूट पड़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। रत्नसेन के वियोग में नागमती के वियोग का जो सजीव चित्रण इस ग्रंथ में कवि ने प्रस्तुत किया है वह हिन्दी साहित्य की अमर थाती है। इसकी तुलना हम केवल सूर द्वारा किए गए कृष्ण विरह में गोपियों के विरह वर्णन से ही कर सकते हैं। पद्मावत में अनुभूति की प्रधानता है अभिव्यक्ति की नहीं। कवि ने भाव और रस को आधार मानकर काव्य की रचना की है। शब्दाडम्बर और अलंकारों के पीछे नहीं दौड़ा। हिन्दी साहित्य को अपने इस महाकाव्य पर अभिमान है।

रामचरित मानस—प्राचीन भाषाओं में कालिदासकृत 'रघुवंश', वाल्मीकिकृत 'रामायण' होमरकृत 'ईलियड', वर्जिलकृत 'ईनियड', फिरदौसीकृत 'शाहनामा', और आधुनिक भाषाओं में मिल्टनकृत 'पैराडाइज लास्ट" दाँतेकृत 'डिवाइ कॉमेडी', माइकेल मधुसूदनदत्तकृत 'मेघनाद वध' इत्यादि प्रमुख महाकाव्य माने जाते हैं। गोस्वामीतुलसीदासकृत 'राम-

चरित मानस' को भी हम बहुत सुगमता पूर्वक उक्त महाकाव्यों की श्रेणी में रख सकते हैं। मानस में काव्यात्मक सौंदर्य के साथ ही साथ दार्शनिक चिंतन और सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की ऐसी सुन्दर रूपरेखा कवि ने प्रस्तुत की है कि रामराज्य की कल्पना ने स्वर्ग का साकार रूप समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। मानव की सर्व काल व्यापी प्रकृतियों का चित्राँकन इस महाकाव्य में लेखक ने किया है। भाषा और भाव का कलात्मक संयोग इस महाकाव्य में कवि ने प्रस्तुत किया है। मानव हृदय के प्रेम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, इत्यादि सभी भावों को लेकर सुन्दर रचना की है और उसे काव्य-कुशलता की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। हिन्दी साहित्य में इस ग्रंथ से अधिक अन्य किसी भी ग्रंथ ने ख्याति प्राप्त नहीं की। इस महाकाव्य में कवि ने समाज के सभी पात्रों को लिया है। राम को पुत्र के रूप में, दशरथ को पिता रूप में, सीता को स्त्री के रूप में, कौशल्या को माता के रूप में, भरत और लक्ष्मण को भाई के रूप में, विभीषण और सुग्रीव को मित्र के रूप में, राम को राजा के रूप में, रावण को शत्रु के रूप में, और इसी प्रकार समाज तथा राष्ट्र के विविध पात्रों को लेकर समाज और राष्ट्र की विविध समस्याओं का उद्घाटन किया है। मानस में कवि ने महाकाव्य के सभी गुणों का निरूपण एक कवि और आचार्य के नाते किया है। और कहीं पर भी साहित्य समीक्षक के लिए उँगली रखने को स्थान नहीं रहने दिया है। रामचरित मानस की कथा राजा रामचन्द्र की वह मर्यादावादी कथा है कि जिसने आज भारत की जनता के हृदयों में व्यापक स्थान बना लिया है। रामचरितमानस की भाषा अवधी है। यह ग्रंथ काव्य की अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति दोनों दृष्टि से पूर्ण उतरता है। इस ग्रंथ में हमें काव्य-सौष्ठव की पराकाष्ठा मिलती है। कथा के प्रसार में लेखक ने मौलिकता से काम लिया है और वाल्मीकि रामायण की कथा पर आँखें

छन्द करके अपने काव्य को आधारित नहीं किया। यह ग्रंथ आद्योपांत दोहा और चौपाइयों में लिखा गया है परन्तु कहीं-कहीं पर अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। इस ग्रंथ में विशेष रूप से कवि ने राजा राम के मर्यादा पुरुषोत्तम होने की भावना पर बल दिया है और धार्मिक दृष्टिकोण से विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है।

रामचन्द्रिका—भक्तिकाल के उक्त दोनों महाकाव्य भक्ति युग के अमर ग्रंथ हैं। इनके पश्चात् हिन्दी साहित्य में हमारे सम्मुख आचार्य केशव की 'रामचन्द्रिका' आती है जिसमें नायक स्वरूप राम को ही लेकर कवि ने एक प्रबंधकारक काव्य की रचना की है। इस काव्य की प्रबंधात्मकता सदोष है और कथा की तारतम्यता पर लेखक ने ध्यान नहीं दिया। ग्रंथ में मनमाने छंदों की उड़ान के साथ अपने अलंकारिक चमत्कार के पीछे आप दौड़े हैं। वास्तव में इस काव्य को यदि प्रबंध काव्य न कहकर मुक्तक पदों का सक्रम संकलन कह दिया जाए तो कुछ अनुचित न होगा। कहीं कहीं पर तो अपने व्यर्थ की बात के लिए अनेकों पदों की रचना कर मारी है और कहीं कहीं पर बहुत महत्वपूर्ण घटनाओं को आप एक ही पद में साँकेतिक रूप से कहकर आगे चल दिए हैं। इस काव्य में न तो कथा का प्रवाह ही है और न काव्य की अभिव्यञ्जना ही, केवल अलंकारों की कूद फाँद मात्र है सो उससे महाकाव्य के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती। रामचन्द्रिका' को हम रीतिकालीन प्रवृत्ति से पूर्ण रीतिकाल का वह सदोष महाकाव्य मानते हैं जिसमें स्वाभाविकता लेशमात्र भी नहीं है और कवि ने काव्य की आत्मा से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके केवल अभिव्यक्ति को ही सब कुछ मान लिया है। इस महाकाव्य में जीवन की वह रूपरेखा वर्तमान नहीं जो रामचरित मानस की भांति जनता के प्राणों को छूकर उन पर जादू का प्रभाव डाल सके।

प्रियप्रवास—रीतिकाल के पश्चात् हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में खड़ी बोली की रचनाएँ सामने आईं। 'प्रियप्रवास', 'साकेत', और और कामायनी की रचना हुई और भक्ति-काल की सोई हुई स्वाभाविकता एक बार फिर से प्रस्फुटित हो उठी। 'प्रिय-प्रवास' की रचना अयोध्यासिंह उपाध्याय ने संस्कृत छंदों में की और पाठकों ने उसे अपनाया। एक युग के पश्चात् यह महाकाव्य हिन्दी में आया था, इसलिए इसका विशेष रूप से स्वागत किया गया। इस महाकाव्य में विप्रलम्भ-शृंगार के अंतर्गत करुणा का स्रोत कवि ने बहाया है और वात्सल्य में भी वियोग-पक्ष को ही प्रधानता दी है। आधुनिक युग के नेता की भावना को लेकर इसमें भगवान् कृष्ण को जाति का लोक-प्रिय नेता माना गया है। इस काव्य में कृष्ण भगवान् का न तो भक्तिकालीन लीलामय रूप ही कवि ने लिया है और न रीतिकालीन वासनामय रूप ही। यहाँ तो कवि ने कृष्ण के लोक-रक्षक और कर्तव्यपरायण रूप की प्रतिष्ठा की है। 'प्रिय प्रवास' में कवि ने राधाकृष्ण के प्रेम में लोक सेवा की भावना को उद्दीप्त करके लोकरंजक चेतना को जन्म दिया है। समस्त ग्रंथ में भावना पक्ष को लेखक ने सबल रखा है। परंतु अभिव्यंजना की पुष्टि पर अभिव्यक्ति का बलिदान नहीं कर दिया है। काव्य के पात्रों की जातिगत विशेषताओं का निरूपण करने में लेखक ने उनके व्यक्तिगत गुण तथा दोषों को भुलाने का प्रयत्न नहीं किया है। प्रेम के साथ विरह वेदना और दूसरी ओर वात्सल्य का बहुत हृदयस्पर्शी चित्रण कवि ने किया है। जहाँ तक सर्गों और छंदों का संबंध है वहाँ तक लेखक ने महाकाव्य के नियमों का पूर्णरूप से पालन किया है। विषय और नायक के अनुसार भी इसमें महाकाव्य के सब लक्षण वर्त्तमान हैं। यह सब होने पर भी 'प्रिय-प्रवास' में जीवन की व्यापक व्याख्या का अभाव है और यही कारण है कि हमें इस आधुनिक खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य को महाकाव्यों की श्रेणी में

रखते हुए संकोच होता है। इस ग्रंथ की रचना में लेखक का मूलध्येय केवल विरह-वर्णन ही रहा है।

साकेत—'प्रियप्रवास' के पश्चात् कविवर मैथलीशरण गुप्तजी का 'साकेत' महाकाव्य के रूप में हमारे सम्मुख आता है। 'साकेत' से पर्व आपका प्रबंध काव्य 'भारत-भारती' हिंदीजगत् में पर्याप्तख्याति प्राप्त कर चुका था, परन्तु उसे महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। 'रामचरित मानस' और 'रामचंद्रिका' के पश्चात् हिंदी-साहित्य एक प्रकार से राम को भूल चुका था। रीतिकाल में राधा और कृष्ण को लेकर रीतिकालीन कवि अपने मुक्तक काव्य की रचना करते रहे, परंतु राम के गम्भीर चरित्र में उनकी भावनाओं को विकसित होने के लिए स्थान न मिल सका। एक युग से सोई हुई इस राम-भावना को एक बार फिर हिंदी साहित्य में प्रसारित करने के लिए श्री मैथिलीशरण गुप्तजी के महाकाव्य में नायक राम ही हैं। परंतु विशेषरूप से जिन चरित्रों का विकास हुआ है वह 'उर्मिला' और लक्ष्मण के चरित्र हैं। 'उर्मिला' के प्रति हिंदी साहित्य की उदासीनता भावना पर इसी काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने लेख लिखा था और उसी की पूर्ति बाबू मैथिलीशरण गुप्तजी ने साहित्य में 'साकेत' प्रस्तुत करके की। महाकाव्य को 'साकेत' नाम देकर के उसके महत्व को कवि ने ग्रंथ में आद्योपांत निभाया है। इस काव्य का घटना-चक्र सब साकेत के ही चारों ओर घूमता रहता है। 'साकेत' में कवि ने 'रामचरित मानस' की अपेक्षा और अधिक आधुनिकता लाने का प्रयत्न किया है जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने वाल्मीकि की रामायण को ज्यों का त्यों नहीं अपनाया। और इस प्रकार इन नवीन उद्भावनाओं के फलस्वरूप काव्य में ताज़गी आगई है और रचना का सौष्ठव बढ़ गया है। इस रूप में आज का पाठक इस काव्य को अपने जीवन के अधिक निकट देखने में समर्थ हुआ है। यहाँ यह सच है कि

गुप्तजी के राम-चरित्र में वह गाम्भीर्य और मर्यादा नहीं आने पाई जो गोस्वामी जी के राम में है। परंतु मनोवैज्ञानिक आधार की कसौटी पर कसने से गुप्तजी के पात्र कुछ कम सजीव प्रमाणित नहीं होते। गुप्तजी की मन्थरा कैकेयी के हृदय में फूट का बीज इसलिए नहीं बोती कि "गिरा" उसकी "मति फेर" गई है। वह तो यह कहकर—

"भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।"

कैकेयी की राम-प्रेम विषयक भावना पर मनोवैज्ञानिक आघात करती है। साकेत के सीता और लक्ष्मण में देवर और भाभी की भावना का आधुनिक परिहास-रूप मिलता है, सरल स्नेह मिलता है, मर्यादा का वह स्वरूप नहीं जहाँ लक्ष्मण केवल सीता के चरणभूषणों को ही पहिचान सकता है। अभिव्यंजना की दृष्टि से यह काव्य बहुत सफल है और अभिव्यक्ति भी इसकी बहुत कलात्मक है परन्तु इसकी प्रबन्धात्मकता में कहीं कहीं पर ऐसे दोष आगए हैं कि जो किसी महाकाव्य में नहीं आने चाहिये। 'साकेत' का घटना-प्रवाह उर्मिला के अत्याधिक विरह-वर्णन में विलीन हो गया है और कथा की तार तम्यता नष्ट हो गई है। स्मृति के स्वप्नों से घटनाओं का जन्म होता है और इस प्रकार काव्य में कलात्मकता और चमत्कार तो आता है परन्तु प्रबन्धात्मकता को ठेस लगती है। इस महाकाव्य में कवि ने महाकाव्य के गुणों को रचना में लड़ीबद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया है और वह बहुत कुछ अंशों में उसमें सफल ही रहा है। आज के मुक्तक-कविता-प्रणाली ने भी गुप्तजी के साकेत की प्रबन्धात्मकता को गहरी ठेस पहुँचाई है और एक प्रबल टक्कर दी है। आधुनिक युग की प्रचलित गीतात्मकता को मोह ने गुप्तजी की प्राचीन लड़ीबद्ध प्रबंधात्मकता पर विजय प्राप्त करली है और इसके फलस्वरूप काव्य बंधन का जो नया स्वरूप आपने खड़ा किया है वह

रखते हुए संकोच होता है। इस ग्रंथ की रचना में लेखक का मूलध्येय केवल विरह-वर्णन ही रहा है।

साकेत—'प्रियप्रवास' के पश्चात् कविवर मैथलीशरण गुप्तजी का 'साकेत' महाकाव्य के रूप में हमारे सम्मुख आता है। 'साकेत' से पर्व आपका प्रबंध काव्य 'भारत-भारती' हिंदीजगत् में पर्याप्तख्याति प्राप्त कर चुका था, परन्तु उसे महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। 'रामचरित मानस' और 'रामचंद्रिका' के पश्चात् हिंदी-साहित्य एक प्रकार से राम को भूल चुका था। रीतिकाल में राधा और कृष्ण को लेकर रीतिकालीन कवि अपने मुक्तक काव्य की रचना करते रहे, परंतु राम के गम्भीर चरित्र में उनकी भावनाओं को विकसित होने के लिए स्थान न मिल सका। एक युग से सोई हुई इस राम-भावना को एक बार फिर हिंदी साहित्य में प्रसारित करने के लिए श्री मैथिलीशरण गुप्तजी के महाकाव्य में नायक राम ही हैं। परंतु विशेषरूप से जिन चरित्रों का विकास हुआ है वह 'उर्मिला' और लक्ष्मण के चरित्र हैं। 'उर्मिला' के प्रति हिंदी साहित्य की उदासीनता भावना पर इसी काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने लेख लिखा था और उसी की पूर्ति बाबू मैथिलीशरण गुप्तजी ने साहित्य में 'साकेत' प्रस्तुत करके की। महाकाव्य को 'साकेत' नाम देकर के उसके महत्व को कवि ने ग्रंथ में आद्योपांत निभाया है। इस काव्य का घटना-चक्र सब साकेत के ही चारों ओर घूमता रहता है। 'साकेत' में कवि ने 'रामचरित मानस' की अपेक्षा और अधिक अधुनिकता लाने का प्रयत्न किया है जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने वाल्मीकि की रामायण को ज्यों का त्यों नहीं अपनाया। और इस प्रकार इन नवीन उद्भावनाओं के फलस्वरूप काव्य में ताजगी आगई है और रचना का सौष्ठव बढ़ गया है। इस रूप में आज का पाठक इस काव्य को अपने जीवन के अधिक निकट देखने में समर्थ हुआ है। यहाँ यह सच है कि

गुप्तजी के राम-चरित्र में वह गाम्भीर्य और मर्यादा नहीं आने पाई जो गोस्वामी जी के राम में है। परंतु मनोवैज्ञानिक आधार की कसौटी पर कसने से गुप्तजी के पात्र कुछ कम सजीव प्रमाणित नहीं होते। गुप्तजी की मन्थरा कैकेयी के हृदय में फूट का बीज इसलिए नहीं बोती कि "गिरा" उसकी "मति फेर" गई है। वह तो यह कहकर—

"भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।"

कैकेयी की राम-प्रेम विषयक भावना पर मनोवैज्ञानिक आघात करती है। साकेत के सीता और लक्ष्मण में देवर और भाभी की भावना का आधुनिक परिहास-रूप मिलता है, सरल स्नेह मिलता है, मर्यादा का वह स्वरूप नहीं जहाँ लक्ष्मण केवल सीता के चरणभूषणों को ही पहिचान सकता है। अभिव्यंजना की दृष्टि से यह काव्य बहुत सफल है और अभिव्यक्ति भी इसकी बहुत कलात्मक है परन्तु इसकी प्रबन्धात्मकता में कहीं कहीं पर ऐसे दोष आगए हैं कि जो किसी महाकाव्य में नहीं आने चाहिये। 'साकेत' का घटना-प्रवाह उर्मिला के अत्याधिक विरह-वर्णन में विलीन हो गया है और कथा की तार तम्यता नष्ट हो गई है। स्मृति के स्वप्नों से घटनाओं का जन्म होता है और इस प्रकार काव्य में कलात्मकता और चमत्कार तो आता है परन्तु प्रबन्धात्मकता को ठेस लगती है। इस महाकाव्य में कवि ने महाकाव्य के गुणों को रचना में लड़ीबद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया है और वह बहुत कुछ अंशों में उसमें सफल ही रहा है। आज के मुक्तक-कविता-प्रणाली ने भी गुप्तजी के साकेत की प्रबन्धात्मकता को गहरी ठेस पहुँचाई है और एक प्रबल टक्कर दी है। आधुनिक युग की प्रचलित गीतात्मकता को मोह ने गुप्तजी की प्राचीन लड़ीबद्ध प्रबंधात्मकता पर विजय प्राप्त करली है और इसके फलस्वरूप काव्य बंधन का जो नया स्वरूप आपने खड़ा किया है वह

कामायनी—ऊपर जितने भी महाकाव्यों का वर्णन हम कर आये हैं उन सब की गणना प्राकृतिक महाकाव्यों (Epics of growth) के ही अंतर्गत करेंगे। विशुद्ध कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art) जिसे कहा जा सकता है वह ग्रंथ हिंदी साहित्य में कामायनी है। कामायनी में एक कथा है अवश्य परन्तु उसमें प्रधानता कथा की न होकर विचार-धारा की है। कवि रूपकों द्वारा अपनी विचारात्मकता को प्रश्रय देता है और भावना के विकास की ओर दत्तचित्त रहता है। चिंता, श्रद्धा, बुद्धि, लज्जा, काम, ईर्ष्या इत्यादि मानव-प्रवृत्तियों को साकार रूप में प्रस्तुत करके कलाकार ने विचार और कथा का सजीव सम्मिश्रण किया है। प्राचीनता के उपासक प्रसाद ने कामायनी का कथानक आदियुग के वैदिक आख्यानों की उस झांकी से खोज कर निकाला है जिसे स्थिर करने में कल्पना अपनी सबल तूलिका सम्भालनी पड़ी है। महाप्रलय में देवताओं का विनाश होने के पश्चात् केवल मनु जीवित रह जाते हैं। एकाकी जीवन की असंतुष्ट परिस्थिति में मनु की भेंट कामगोत्रजा

कामायनी से होती है। दोनों एक दूसरे को वर लेते हैं। नवीन मानव विकसित होता है। मनु देव कुल से होने के नाते पशुबलि का पक्षपाती है और पशु-बलि देता है। कामायनी इसे सहन नहीं कर पाती और पति-पत्नि में विपरीत विचारों का जन्म होता है। कामायनी (श्रद्धा) इसी समय गर्भवती होकर अपने भावी शिशु के प्रति चिन्ता निमग्न होती है और इसी चिंता के फलस्वरूप मनु के मन में अपने अविभाजित प्रेम को विभाजित देखकर ईर्ष्या का उदय होता है और मनु श्रद्धा को अकेली छोड़कर चल देता है। वहाँ से चलकर मनु सारस्वत देश की रानी बुद्धि की प्रतीक इड़ा के पहुँचता है। इड़ा देवताओं की बहिन थी। मनु इड़ा राज्य में एक नवीन संस्कृति को जन्म देता है परंतु अपनी वासना पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है। जब वह इड़ा पर अपनी वासना प्रसारित करने को उद्यत होता है तो सारस्वत प्रदेश की प्रजा विद्रोह करके मनु को घायल कर देती है। श्रद्धा यह सब कुछ स्वप्न में देखकर अपने पुत्र 'मानव' को साथ ले सारस्वत प्रदेश में जाकर मनु को खोज लेती है। फिर श्रद्धा 'मानव' को इड़ा के हाथ सौंपकर मनु को साथ ले कैलाश पर्वत की ओर चल देती है। कैलाश पर पहुंच वह ज्ञान इच्छा और क्रिया-को अपनी स्मित से एक बना कर तीनों के एकीकरण का उपदेश देती है।

इस प्रकार कामायनी में बुद्धि पर श्रद्धा को प्रधानता देकर कविवर जयशंकर प्रसादजी ने पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन किया है। यहाँ पर प्रसादजी ने बुद्धिवाद पर हृदयवाद को प्रधानता दी है यह समालोचकों का मत है परन्तु हम ऐसा नहीं मानते। श्रद्धा मानव को इड़ा के, जो कि बुद्धि की प्रतीक है हाथों में सौंपकर कैलाश पर चली जाती है। इस चले जाने में मानव के जीवन और मरण के क्रम बहुत ही सुन्दर और कलात्मक रूप में यथार्थवादी ढंग से लेखक ने

प्रस्तुत किया है। श्रद्धा मानव को बौद्धिक विकास के क्षेत्र में छोड़कर ही संसार विलुप्त होती है। कामायनी की रचना पर छायावादी कविता का स्पष्ट प्रभाव है और काव्य में कवि ने सुन्दर गीतों की सृष्टि करके इसके भावना पक्ष को बहुत ही ऊंचा उठा दिया है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यंजना हिंदी के इस महाकाव्य में जितनी निखरकर प्रस्फुटित हुई है उतनी अन्य किसी महाकाव्य में नहीं हुई। प्राचीन रूढ़िवादी छंदों की तारतम्यता को सांकेत की भांति निभाने का प्रयत्न कविवर प्रसाद ने बिल्कुल नहीं किया और नए नए छंदों को लेकर सरसता के साथ काव्य की लड़ी में मोतियों को पिरोया है। कामायनी में लेखक ने श्रद्धा के चरित्र उठाने के लिए मनु के चरित्र को गिराया है यह एक अखरने वाली बात है। मनु के चरित्र को बिना गिराए भी श्रद्धा के चरित्र को जितना लेखक चाहता विकसित कर सकता था। परन्तु कामयानी में लेखक का लक्ष्य आज के युग की प्रधानता के आधार पर केवल नारी चरित्र को उठाना मात्र ही नहीं रहा! मनु को लेखक देवता के प्रतीक स्वरूप प्रस्तुत किया है। मानव के प्रतीक स्वरूप नहीं। मानव का उत्थान- कवि ने देवता की भावना के विनाश में देखा है। जहाँ दम्भ, ईर्ष्या और शक्ति के अपहरण करने की भावना पनपेगी वहाँ मानवता का विकास नहीं हो सकता। मानवता का विकास श्रद्धा की शुभ कामनाओं के साथ बौद्धिकी छत्र छाया में ही हो सकता है और इसीलिए श्रद्धा मानव को इड़ा के पास अपनी शुभ कामनाओं का बल देकर विश्व में मानवता का प्रचार करने के लिए छोड़ जाती है। कामायनी अपने ढंग का हिंदी साहित्य में अकेला महाकाव्य है जिसका स्थान अपना अकेला है।

उक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त 'सांकेत संत', 'कुरुक्षेत्र' भी महाकाव्यों की ही श्रेणी में आते हैं। 'सांकेत-संत' में पं०

साकेत बलदेवप्रसाद मिश्र ने भरत के चरित्र का सुन्दर चित्रण

किया है। 'कुरुक्षेत्र' में बुद्धिवादी विचार धारा को कवि दिनकर जी ने महत्ता दी है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में महाकाव्यों की कमी नहीं रही और एक से एक सुन्दर रचना लिखी गई है। आधुनिक युग में व्यक्तिगत भावना के फलस्वरूप मुक्तक कविता को विशेष प्रश्रय मिला, परन्तु फिर भी महाकाव्यों का नितांत अभाव नहीं।

खण्डकाव्य

खण्डकाव्य में महाकाव्य के प्रायः सभी गुण वर्तमान होते हैं, परन्तु जहाँ तक उसके विषय के व्यापकत्व का सम्बन्ध है वह महाकाव्य की अपेक्षा सीमित रहता है। खण्डकाव्य में जीवन की उस अनेकरूपता के दर्शन नहीं होते जो महाकाव्य के अन्दर पाई जाती है। एक उपन्यास और कहानी अथवा नाटक और एकांकी नाटक में जितना अन्तर रहता है वही अन्तर महाकाव्य और खण्डकाव्य के अन्दर पाया जाता है। जीवन की किसी विशेष घटना अथवा विचारधारा को लेकर कवि खण्ड-काव्य की रचना करता है। इसमें घटनाओं और विचारधाराओं का उतना व्यापक विकास नहीं हो सकता जितना कि महाकाव्य के अन्दर होता है। खण्डकाव्य को हम प्रकथनात्मक काव्य (Narrative Poetry) के ही अंतर्गत रखते हैं। अंग्रेजी साहित्य में ऊजड़ ग्राम (Deserted Village) और टेनीसन की 'एनक आर्डन' खण्डकाव्य के ही उदाहरण हैं। संस्कृत साहित्य में कालीदास के मेघदूत को भी हम खण्डकाव्य के ही अंतर्गत रखेंगे। खण्डकाव्य में एक कथा पूर्णरूप से प्रबन्धात्मकता के साथ चलती है और वह जीवन के किसी एक पहलू का स्पष्टीकरण करे समाप्त हो जाती है अथवा किसी विशेष घटना का विस्तार के साथ चित्रण करती है। गोस्वामी तुलसीदास के पार्वतीमंगल

और जानकीमंगल, नन्ददास का भ्रमरगीत, नरोत्तमदास का सुदामाचरित्र इत्यादि इसके सुन्दर उदाहरण हैं। हिन्दी साहित्य में आदिकाल से सिद्ध-हस्त लेखकों ने खण्डकाव्यों की रचना में विशेष प्रोत्साहन दिखलाया है।

हिन्दी में खंडकाव्य

वीसलदेव रासो—नरपतिनाल्ह कवि द्वारा लिखित 'वीसलदेव रासो' हिन्दी साहित्य का सर्व प्रथम खण्डकाव्य है। इसके चार खंड हैं और लगभग २००० चरण। विग्रहराज चतुर्थ, जिनका उपनाम वीसलदेव था, का कीर्तिगान कवि ने इस काव्य में गाया है।

मृगावती—मृगावती की रचना सूफी प्रेम-धारा के प्रसिद्ध संत की कहानी दोहा और चौपाइयों में क्रमबद्धता के साथ लिखी गई है। इस कहानी द्वारा प्रेम मार्ग में आने वाला त्याग और कष्टों का सुन्दर चित्रण है।

प्रकार का है। इसमें प्रबन्धात्मकता पर कवि ने विशेष ध्यान दिया है। रचना-भक्ति भावना से पूर्ण है और ऊधव तथा गोपियों के सुन्दर संवाद कवि ने लिखे हैं। इस ग्रंथ का प्रत्येक पद तथा प्रत्येक पद का प्रत्येक अक्षर कवि ने नगीने की भांति कविता में जड़ा है। आपका दूसरा खण्डकाव्य रास पंचाध्यायी है।

सुदामा चरित्र—कविवर नरोत्तमदास लिखित सुदामा चरित्र हिंदी साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। सुदामा की दरिद्रता, कृष्ण की कृपालुता और मित्रता और उनके राजसी ठाट-बाट का इस खण्डकाव्य में कवि ने बहुत सहृदयता के साथ चित्रण किया है। इस पुस्तक के कुछ पद्य बहुत सरस और भावुकतापूर्ण हैं। सुदामा चरित्र के अतिरिक्त आपका लिखा हुआ ध्रुव-चरित्र भी एक खण्डकाव्य मिलता है, परंतु इस रचना की सुदामा चरित्र से कोई समानता नहीं की जा सकती।

गंगावतरण—कविवर रत्नाकर जी की रचना गंगावतरण एक सुंदर खण्डकाव्य है जिसमें बहुत ही ओजस्वनी भाषा में गंगा के पृथ्वी पर आने की कथा का वर्णन किया गया है। रत्नाकर जी की कविता का सुंदरतम रूप हमें उनकी इस रचना में देखने को मिलता है। यह ब्रज भाषा का एक सुंदर खण्डकाव्य है।

उद्धवशतक—उद्धवशतक में भी सूर और नंददास के भ्रमर-गीत का विषय लिखा गया है। ऊधव ब्रज में जाकर गोपियों को योग का उपदेश देता है और वह गोपियाँ जो कृष्ण के प्रेम रस में पगी हुई थीं ऊधव को उलाहने दे-देकर योग पर भक्ति का प्रतिपादन करती हैं। रत्नाकर जी की यह सर्वश्रेष्ठ रचना है और खण्डकाव्य का सुन्दरतम उदाहरण है।

आधुनिक खड़ी बोली के युग में भी महाकाव्यों की भांति खण्ड-काव्य रचना को आधुनिक कवियों ने अपनाया है और एक-से-एक

सुन्दर रचना हिन्दी साहित्य को प्रदान की है। खण्डकाव्य रचना-क्षेत्र में सर्वप्रथम जो सबसे महत्वपूर्ण कवि हमारे सम्मुख आते हैं वह कविवर मैथिलीशरण गुप्त हैं। खड़ी बोली के निम्नलिखित खण्डकाव्य विशेष उल्लेखनीय हैं :—

जयद्रथ वध—जयद्रथ वध में अभिमन्यु के चक्रव्यूह तोड़ने, अन्याय द्वारा निधन होने, अर्जुन द्वारा जयद्रथ को मारने का प्रण करने और फिर सूर्यास्त से पूर्व प्रतिज्ञा-पालन करने की कथा का बहुत सजीव चित्रण कविवर गुप्त जी ने किया है। उत्तरा का विलाप इस काव्य में बहुत सहृदयता के साथ चित्रित किया गया है। कवि ने सरसता, कल्पना और सहृदयता का सुंदर सामंजस्य अभिव्यक्ति की विशेषताओं के साथ इस काव्य में प्रस्तुत किया है। यह काव्य अपने ढंग की अनूठी रचना है।

मुक्तक काव्य रचना के क्षेत्र में घुस गया। अब प्रबंध काव्य पर एक दृष्टि डाल लेने के पश्चात् हम मुक्तक साहित्य की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य साहित्य का वह स्वरूप है जिसमें प्रबन्धात्मकता की अपेक्षा नहीं होती और उसका प्रत्येक पद अपने में पूर्ण होता है। मुक्तक पद भी काव्य में किसी क्रमबद्धता के साथ आ सकते हैं परन्तु वह स्वतन्त्र रूप से भी मुक्त होने चाहिएँ। विद्यापति के पद, सूरदास के पद, मीरा के पद, तुलसी की कवितावली के पद इत्यादि सभी मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं।

प्रबन्ध और मुक्तक का विभाजन साहित्य के समीक्षकों ने उनके पाठ्य और गेय होने पर प्रारम्भ में आधारित किया था। परन्तु बाद में पाठ्य और गेय होना कोई विशेषता न रही। मुक्तक काव्य भी ऐसे लिखे गए थे कि जो केवल गेय ही नहीं थे और इसी प्रकार पाठ्य प्रबन्ध काव्यों में भी गेय सामग्री पर्याप्त रूप से प्राप्त होने लगी। उदाहरण स्वरूप तुलसीदास जी की ही कवितावली की रचना और मानस को ले सकते हैं। मानस प्रबन्ध काव्य होने पर भी आद्योपांत गेय ग्रंथ है।

विषय और भावना के आधार पर गेय काव्य में कवि की आत्माभि-व्यक्ति विशेष निजी भावातिरेक के साथ प्रस्फुटित होती है। कवि के अन्तजगत की जितनी सरस और कलात्मक अभिव्यक्ति गीति काव्य में होती है उतनी प्रबन्ध काव्य में नहीं हो सकती। प्रबंध काव्य की रचना करते समय कवि की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है और वह बहिर्जगत के उद्घाटन में इतना ग्रस्त हो जाता है उसके अपने व्यक्तित्व का विकास उस साहित्य में होता होता रुक जाता है। मुक्तक काव्य तथा गीत काव्य विशेष रूप से

भावना प्रधान होते हैं और उनमें व्यर्थ के लिए रचना के तूल को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती।

मुक्तक काव्य में विशेष महत्व गेय मुक्तक का ही रहता है परंतु उपेक्षा की दृष्टि से पाठ्य मुक्तक को भी नहीं देखा जा सकता।

पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक रहीम, कबीर, वृंदा, और गोस्वामी जी के नीति सम्बंधी दोहे, गिरिधरराय की कुँडलियाँ और बिहारी, वियोगीहरि और दुलारे लाल की दोहावलियाँ पाठ्य मुक्तक के रूप में रखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त मीरा सूर और विद्यापति के पद गेय मुक्तक के रूप में हिंदी साहित्य के अन्दर मिलते हैं। जयदेव का गीतगोविंद संस्कृत के गेय मुक्तक साहित्य की अमर थाती है। हिंदी साहित्य के वीर गाथा काल में मुक्तक साहित्य का हमें विशेष विकास नहीं दिखलाई देता। इसके पश्चात् भक्तिकाल में भक्ति के पदों की रचना हुई और गेय तथा पाठ्य दोनों ही प्रकार का मुक्तक साहित्य हिंदी में [illegible] के प्रतिभाशाली लेखकों द्वारा लिखा गया। भक्तिकाल [illegible] [illegible] रीतिकाल में गेय मुक्तक साहित्य विशेष रूप से प्रस्फुटित न [illegible] और [illegible] के [illegible] विद्वानों ने जो मुक्तक रचनाएँ की भी [illegible] साहित्य समीक्षा ग्रंथों में उदाहरण प्रस्तुत करने के लि[illegible] [illegible] साहित्य विशेष रूप से गेय न हो [illegible] हुआ है। रीतिकाल के पश्चात् आधुनिक [illegible] विकास [illegible] लक्षित होती है। साहि[illegible] [illegible] और कलाकारों ने संगीत का [illegible] [illegible]। अंग्रेजी साहित्य की [illegible] [illegible] (Objective) क[illegible] [illegible] की तरह [illegible] [illegible], [illegible] और [illegible] की [illegible]

करण हुआ। बँगला साहित्य के रीतिकाल में कविता का जो स्वरूप खड़ा हुआ उसमें गीतात्मक को विशेष बल मिला। इस काल में मुक्तक काव्यों के अतिरिक्त जो प्रबंध काव्य भी लिखे गए उनमें भी गीतात्मकता प्रधान रूप से लक्षित हुई। गुप्त जी का साकेत और जयशंकर प्रसाद जी की कामायनी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। आज के युग में मुक्तक कविता साहित्य दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा है और कविता का विषय संसार से हटकर व्यक्ति में सम्मिलित होता चला जा रहा है। वास्तव में जब गद्य का विकास नहीं हुआ था तो बहिर्जगत का ज्ञान करने, इतिहास लिखने और विज्ञान तक की अनुमति को सुरक्षित रखने के लिए कविता को माध्यम बनाया जाता था। परन्तु आज गद्य के विकास-युग में कविता को उन क्षेत्रों में पैर फैलाने की आवश्यकता नहीं। कविता आज विशेष रूप से मुक्तक क्षेत्र में पदार्पण कर रही है और पाठ्य सामग्री की अपेक्षा गीतों की ओर इसका विशेष सम्मान है। आज के युग में मुक्तक काव्य रचना का जो सहयोग कविवर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, माखन लाल चतुर्वेदी, दिनकर, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा इत्यादि ने दिया है वह विशेष उल्लेखनीय हैं।

पदों के समूह और उनका प्रभाव

मुक्तक पदों में दो पद, तीन पद, चार पद और कहीं कहीं पांच पांच पदों का एकीकरण किया जाता है। साहित्य दर्पणकार ने इन्हें युग्मक, संदानितक, कलापक और कुलक नाम से पुकारा है। प्रायः गीतों में इसी प्रकार दो, तीन चार या पांच पदों को रखकर गीतों की रचना की जाती है। आज के गीतों का जो रूप है वह इनके आदि युग के गीतों से सर्वथा पृथक् है अँग्रेजी में लिखी (Lyric) नाम से जिस साहित्य को पुकारा जाता है वह आज के गीतों का रूप नहीं। हां, इन पर उनका प्रभाव अवश्य है। इस साहित्य में बहाव है,

भावातिरेक है, गीतों की लहरों में स्वरों का स्वाभाविक विकास है, हृदय की वीरता से संचालित होने वाली तरंग है। भाषा के माध्यम द्वारा गीति काव्य को रोमांचित करने, अश्रु, कम्प और हास्य की रेखा खींचने और अपना प्रभाव श्रोताओं, पाठकों तथा गायकों पर डालने में सफल होता है। मानव के हृदय में प्रेम, सहानुभूति, दया, करुणा इत्यादि भावनाओं को जितने वेग के साथ गीत साहित्य संचालित कर सकता है। उतने वेग के साथ अन्य कोई साहित्य नहीं कर सकता। इसका तादात्म्य सीधा कवि की आत्मा से होता है और आत्मा की स्वच्छंद पुकार होने के कारण यह साहित्य की वह प्रतिध्वनि है कि जिसके स्वर की प्रत्येक झंकार में आत्मा को झंकृत कर देने की शक्ति वर्तमान रहती है। प्रगीति काव्य में कवि का आत्मिक दृष्टिकोण अपना सबसे निखरा हुआ स्वरूप प्रस्तुत करता है। मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों को जागृत करने में वह सफल होता है और हृदय को विलोडित करने की क्षमता अपने में रखता है। रागात्मक प्रवृत्ति आत्मनिवेदन का स्वाभाविक स्वरूप प्रस्फुटित करती है। मुक्तक के छोटा होने से भावना का सार उसमें इतने तीखे रूप में आ जाता कि वह श्रोता पर सीधा प्रभाव डालता है। प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य में कवि को अंतः प्रेरित (Spontaneous) भावना को विकसित होने में अधिक सुगमता मिलती है। अनुभूति और अभिव्यक्ति का सरस और कोमलतम स्वरूप प्रगीति साहित्य में प्राप्त होता है। प्रगीति काव्य में शब्दों के अर्थ और उनके उच्चारण की ध्वनि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कवि जब अपनी स्वच्छंद भावनाओं से प्रेरित होकर अपने इष्टदे अथवा प्रेमिका की आराधाना अथवा प्रेम प्रदर्शन में गीत का सृजन करता है तो उसकी रचना में रागात्मक आत्मनिवेदन अनिवार्य रूप से आ जाता है। मीरा, सूर, तुलसी, और विद्यापति के पदों मे यह आत्मनिवेदन कूट-कूट कर भरा है।

सूर और मीरा के पदों का स्थान आधुनिक युग में गीतों ने ले लिया
है भक्ति युग में जितने भी पद लिखे गए हैं वह
गीतों का अधिकाँश अपने इष्ट देवों को रिझाने मात्र के ही
आधुनिक रूप लिए लिखे गए। परंतु आज के युग में धर्म के उस
प्राचीन रूप का ह्रास स्पष्ट रूप से दिखलाई दे रहा है।

आज प्रकृति के रहस्य से प्रभावित होकर कवि ईश्वरीय शक्ति के प्रति आकर्षित तो होता है, परंतु उसका यह आकर्षण किसी निश्चय का द्योतक नहीं। सगुण भक्ति का जो रूप सूर के पदों में मिलता है उससे आधुनिक युग के छायावादी साहित्यिक गीत सर्वथा पृथक् हैं। इन गीतों में प्रत्येक श्रोता के हृदय को एकदम छू देने वाली वह शक्ति नहीं जो मीरा के पदों में वर्तमान है। आज के साहित्यिक गीतों के रहस्य को समझने के लिए बुद्धि की कसरत करनी होती है, और इस बुद्धि की कसरत से हृदय की स्वाभाविक भावना को ठेस लगती है। जिस प्रकार साहित्य में गीतों का प्रसार होता है उसी प्रकार जनता में लोक-गीतों का भी प्रचार होता चला आया है। आज के युग में साहित्य प्रेमियों ने अपना ध्यान इस ओर भी आकर्षित किया है और जनता के बीच घुसकर लोक-गीतों की परख की है। इन लोक-गीतों में सहृदयता साहित्यिक गीतों की अपेक्षा कहीं अधिक है और भाव अभिव्यंजना के हृदय-स्पर्शी चित्र भरे पड़े हैं। लोक-गीत विशेष रूप से अवसर विशेषों के अनुसार हैं जैसे होली, जन्मोत्सव, विवाह, यज्ञोपवीत के अवसर पर गाए जाने वाले गीत। इन गीतों में गायक और श्रोता में तादात्म्य हो जाता है। एक और उल्लेखनीय बात इन गीतों के विषय में यह भी है कि इनमें निजीपन की अपेक्षा साधारणीकरण और सामानता अधिक पाई जाती है। पं० राम नरेश त्रिपाठी और देवेन्द्र सत्यार्थी जी ने लोक गीतों के संग्रह संचालित करके साहित्य के क्षेत्र में प्रस्तुत किए हैं। इन गीतों में कल्पना और कला वह निखरा हुआ

सामंजस्य तो नहीं मिलता है परंतु अभिव्यंजना पक्ष साहित्यिक गीतों की अपेक्षा कुछ कम सबल नहीं होता।

गीति के दो प्रकार

साहित्यात्मक गीतों को यदि हम भेदों में विभाजित करना चाहें तो हमारे सामने दो प्रकार खड़े होते हैं, एक विशुद्ध आत्मानुभूति को लिए हुए संवेदनात्मक रूप और दूसरा कथात्मक रूप। संवेदनात्मक रूप में विषयीगत (Subjective) भावना का प्राधान्य रहता है और कथात्मक रूप में विषयगत (Objective) रूप का। उदाहरण स्वरूप हम सूर के पदों में इन दोनों ही रूपों को ले सकते हैं। मीरा का समस्त साहित्य संवेदनात्मक है। महादेवी वर्मा के गीतों में संवेदना का अतुलित भंडार मिलता है। जिन पदों में सूर ने किन्हीं प्रचलित कथाओं को गाया है वह विषयगत गीतों में गिने जाएंगे।

गीति साहित्य का प्रसार

जिस प्रकार ऊपर हमने महाकाव्य और खण्डकाव्यों की सीमाएँ निर्धारित कर दीं उसी प्रकार गीतों की सीमाएँ नहीं बनाई जा सकतीं। मन के हृदयोल्लास, संवेदना और करुणा को बांधकर गीति साहित्य की रूप रेखा तैय्यार करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार पहाड़ी नदियों की सीमाएँ बांधना है। यह मानव का वह मुक्त प्रवाह है कि जिस पर बाँध नहीं बांधा जा सकता। इसीलिए इसका कोई एक रूप भी नहीं है। गीति साहित्य अनेक रूपता के साथ प्रवाहित होता है और जीवन के विविध अंगों की समीक्षा और विविध भावनाओं का स्पष्टीकरण करता हुआ साहित्य के केन्द्रित स्थानों को छू जाता है। मानव की बंधन विहीन स्वतन्त्रता का यह स्पष्टीकरण भावोल्लास को अपने पदों में बाँधकर साहित्य के भंडार को भरता है। अँग्रेजी साहित्य में गीतों के साधारणतया निम्नलिखित प्रकार प्रचलित हैं :—

१. सानेट (Sonet) यह चतुदर्शपदी होती है।

२. ओड (Ode) इस प्रकार के गीतों में संबोधन प्रणाली का अनुकरण किया जाता है।

३. ऐलीजी (Elegy) यह शोकपूर्ण गीतों का रूप है।

४. सेटायर (Satire) इसके अन्दर व्यंग्य की प्रधानता रहती है।

५. उपदेशात्मक (Diadact) यह नीति के प्रकार के पद होते हैं।

६. रिफ्लैक्टिव (Reflective) इन गीतों में बुद्धि तत्व की प्रधानता रहती है। विचारात्मकता से इसका सम्बन्ध है।

(१) अँग्रेजी साहित्य में सानेट का गीति साहित्य में प्रधान स्थान है और मिल्टन, वर्डसवर्थ इत्यादि कवियों ने यह चौदह चौदह पंक्तियों की सुन्दर रचनाएँ की हैं, हिन्दी में पद रचना को इस प्रकार पंक्तियों के बंधन में नहीं बाँधा गया। सूर, तुलसी, मीरा, सभी ने पद लिखे हैं, परन्तु किसी नियम में जकड़कर गीतों की गति को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। आधुनिक साहित्यिक गीतिकारों में भी यही मुक्तक प्रणाली देखने को मिलती है। प्रभाकर मांचवे ने कुछ चौदह लाइन की कविताएँ लिखी हैं, परन्तु वह कुछ विशेष महत्वपर्ण नहीं। (२) ओड या सम्बोधनात्मक गीतों से तो आज का हिन्दी गीति साहित्य भरा पड़ा है। 'प्रताप' 'निराला', 'पंत', महादेवी सभी ने इस दिशा में सफलता पूर्वक लेखनी उठाई है। प्रसाद का वसंत दीव, 'निराला' का भिक्षुक, 'खण्डहर के प्रति' और 'पंत' का 'आँसू', बापू के प्रति, इत्यादि इस प्रकार के गीतों के सुन्दर उदाहरण हैं। इस प्रकार की कविताएँ बच्चन, नरेन्द्र, दिनकर, भारतीयआत्मा, 'नवीन' इत्यादि लेखकों ने भी काफ़ी लिखी हैं।

(३) एलेजी (Elegy) अर्थात् शोक गीत जिन्हें फारसी में 'मर्सिया' कहते हैं उनका हिंदी में हमें कोई विशेष प्रसार नहीं-मिलता। इस प्रकार के गीत अँग्रेजी की भी अपेक्षा हमें उर्दू में अधिक मार्मिक

मिलते हैं। हसन और हुसैन की याद में न जाने कितने मर्सिये और कव्वालियाँ उर्दू साहित्य के भंडार में भरी पड़ी हैं। इस दिशा में निराला जी की सरोज के प्रति लिखी हुई कविता उल्लेखनीय है। (४) व्यंग्य की पुट वर्तमान है। (५) विचारात्मक गीतों का हिन्दी में आज प्राधान्य है। महादेवी, पंत, निराला, इत्यादि के गीतों में विचारात्मकता विशेष रूप से बहती है। कोरी भावना और कल्पना पर उनका गीति साहित्य आधारित नहीं। इनके गीतों में भी बौद्धिक विकास की रूपरेखा संन्निहित रहती है। केवल भावोद्रेक में बहकर ही गीत लिखना महादेवी को रुचिकर नहीं। (६) उपदेशात्मक गीतों और पदों से तो हिंदी साहित्य का भंडार पहिले से ही भरा पड़ा है। सूर, कबीर, इत्यादि की रचनाओं में इस प्रकार के अनेकों पद खोजे जा सकते हैं।

संस्कृत साहित्य में गीति काव्य

गीत साहित्य का प्रारम्भ कविता साहित्य के आदि युग से ही चला आता है सामवेद में गीतात्मकता का उदय हमें मिलता है। 'गीता' नाम का जन्म भी गीत शब्द से हुआ है। वाल्मीकि रामायण में भी गीतात्मकता स्थान स्थान पर मिलती है। इसके पश्चात् मेघदूत में गीता-भास मिलता है। परन्तु प्रबन्धात्मकता के बंधन में जकड़ा हुआ, मुक्त रूप से नहीं। संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम स्वतंत्र मुक्तक गीति काव्य का प्रतिनिधि कवि जयदेव है जिसमें गीत गोविंद की रचना करके सर्वप्रथम गीति साहित्य के महत्व को पाठकों के सम्मुख स्थापित किया। गीत गोविंद के गीतों में राग रागनियाँ लिखी गई हैं और उन्हें संस्कृत साहित्य में विशेष सहृदयता के साथ अपनाया गया है। जयदेव के मुक्तक गीतों की कोमलकाँत पदावली और सरस रागाभिव्यक्ति पर पाठकों के सिर जादू होने के समान झूम उठते हैं। उनके गीतों में वशीकरण का प्रबल आकर्षण है और रसिक हृदय के लिए जीवन का आनंद उसकी प्रत्येक पंक्ति में वर्तमान है।

हिन्दी में मुक्तक काव्य

हिंदी में सर्वप्रथम विद्यापति ने मैथिल में गीति काव्य का प्रसार किया और जयदेव की ही भाति साहित्य तथा जनता में ख्याति प्राप्त की। आपके पदों में राधा और कृष्ण को आलम्बन स्वरूप ग्रहण किया गया है और उनकी प्रेम लीलाओं के सजीव चित्रण प्रस्तुत किये हैं। विद्यापति का एक पद देखिए:—

कालि कहल पिय साँझहि रे, जादूवि मइ मारु देस।
मोए अभागिलि नहिं जानल रे, सॅग जादूतवँ जोगिनी वेस॥
हिरदय बड़ दारुन रे, पिया बिन बिहरि न जादू।
एक समय सखि सूतल रे, अछल बलम निसि मोर॥
न जानल कत खन तजि गेल रे, बिछुरल जकुवा जोर।
सूनि सेज पिया सालइ रे, पिय बिन घर मोए आ।ज॥
विनति करहुँ सुसहे लनि रे मोहि अगिहा साजि।
विद्यापति कवि गावल रे, आवि मिलत विनित करहुँ पिय तोर॥
'लखिमा देइ' वर नागर रे, राम सिन सिंह नहिं भोर॥

विद्यापति हिंदी के सर्वप्रथम कवि हैं जिन्होंने प्रगीति-काव्य द्वारा साहित्य को सरसता और रागात्मकता प्रदान की। आपने अपने गीतों की रचना विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से की है और सरसता आपके काव्य की कसौटी रही है। आपके साहित्य में पद लालित्य, सरस भावव्यंजना शृंगार का माधुर्य, हृदय की सरसता, काव्य की कल्पना, अनुभूति की विलक्षणता, वैचित्र्य की उडान, अभिव्यक्ति की कुशलता सभी कुछ तो है। क्या नहीं है विद्यापति को रचना में? आपके जिन पदों में भक्ति की पुट मिलती है उनमें भी शृंगारिकता का इतना आधिक्य है कि काव्यात्मक और रागात्मक तत्वों के अन्दर से भक्ति-भावना को झाँकना असम्भव हो जाता है।

कबीर—विद्यापति के पश्चात् वीर गाथाकाल में गीति साहित्य की झलक हमें दिखलाई नहीं देती और प्रबन्धात्मकता का ही उस काल में प्राधान्य रहा है विद्यापति के काल में अमीर खुसरो के भी पद मिलते हैं। फुटकल रचना लिखने की ओर चारणों का ध्यान नहीं गया। परंतु भक्ति काल के प्रारम्भ से ही फुटकल रचनाएँ लिखी जाने लगीं और मुक्तक काव्य की रचना प्रणाली ने इतना जोर पकड़ा कि कवियों ने अपने को प्रबन्धात्मकता के बंधन में बाँधना व्यर्थ समझकर आत्मानुभूति के आश्रय पर मुक्तक रचनाएँ लिखनी प्रारम्भ कर दी। इस दिशा में कबीरदास जी ने सर्वप्रथम पग उठाया और वह उन्हें आशातीत सफलता मिली। कबीर ने अपनी निर्गुण-प्रेम साधना के प्रचार का माध्यम इस मुक्तक साहित्य को चुना और भगवान को नायक के रूप में मानकर स्वयँ 'राम की बहुरिया' बन बैठे। कबीर के मुक्तक पदों में विचारात्मकता प्रधान रूप से मिलती है और निर्गुण-ब्रह्म के रहस्य का उद्घाटन करना कवि का मुख्यादर्श रहा है। कबीर के पदों में विरह निवेदन और उपदेशात्मकता कूट-कूटकर भरी है। कबीर के पश्चात् संत धारा के कवियों में सभी ने सुन्दर पदों की रचनाएँ की हैं। कैलाश, धर्मदास, गुरु नानक, दादुदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, इत्यादि की मुक्तक रचनाएँ इस काल में उल्लेखनीय हैं। इन सभी की कविताओं में दार्शनिक चिंतन की ही विशेषता रही है, साहित्य का वह सरस स्वरूप वह अपने मुक्तक काव्य में स्थान नहीं कर सके जिसकी झलक हमने ऊपर जयदेव और विद्यापति के साहित्य में देखी अथवा सगुण-भक्ति धारा में सूर मीरा और तुलसी के साहित्य में देखने को मिलेगी।

भारत में यह भक्ति का वह काल था जब भारत के अव्यवस्थित और अशांतिपूर्ण वातावरण को धर्म अपनी गोद में लेकर शांति प्रदान करता जा रहा था। एक ओर कबीर की तानाशाही शाखा अपना प्रभाव

जमाने का प्रयत्न कर रही थी और वह बुद्धि के आधार पर समाज की समीक्षक बनकर विचारात्मक के साथ समाज का मार्ग प्रदर्शन करना चाहती थी। दूसरी ओर भावना पक्ष सूफी प्रेम धारा तथा सगुण भक्ति के रूप में प्रसारित होना चाहती थी। सूफी प्रेम-प्रचारकों ने अपने विचारों के भावमय तत्व प्रबंध काव्य प्रणाली को अपनाया और मुक्तक रचनाओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। सगुण भक्ति के प्रतिपादी ने अपने विचारों के प्रसार के लिए प्रबंधकाव्य प्रणाली और मुक्तक काव्य प्रणाली दोनों को ही अपनाया।

गोस्वामी तुलसीदास—गोस्वामी तुलसीदास जी ने सर्वप्रथम इस ओर अपनी प्रगति दिखलाई। आपने प्रबंध काव्य-रचना की और मुक्तक काव्य के भंडार को भी परिपूर्ण किया। तुलसीदास जी ने अपने साहित्य में विचारात्मकता और भावानुभूति दोनों को समान स्थान दिया है। अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति का सुन्दर सामंजस्य आपके पदों में मिलता है। आपके पदों में विनय की प्रधानता है। विनय पत्रिका आपका बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ विनय के ही पदों से भरा पड़ा है। कविता वली की कविताओं में भी मुक्तक काव्य रचना प्रणाली की ही प्रधानता-मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास के पदों को गायकों ने बहुत अपनाया है।

सूर—गोस्वामी तुलसीदास के पश्चात् रामभक्ति शाखा में और कोई विशेष उल्लेखनीय नाम नहीं आता। वास्तव में मुक्तक गीति काव्य को सबसे अधिक कृष्ण भक्ति शाखा द्वारा अपनाया गया है। भक्त शिरोमणि सूरदास के सूरसागर का एक एक पद हिंदी गीति काव्य की अमूल्य निधि है। सूरदासजी ने अपने इष्टदेव राधा और कृष्ण का गान मुक्तक पदों में ही किया है और अपने मुक्तक पदों के रूप में ही आपने सूरसागर जैसा वृहद् ग्रंथ साहित्य को दे डाला। आपके पदों

में बाललीला से लेकर प्रेम मिलन और विरहवर्णन तक के अमूल्य सरस पद विद्यमान हैं। गोपियों के विरह वर्णन के आपने अनेकों बहुत सुंदर पद लिखे हैं। राधा के प्रेम का चित्राँकन सूरदासजी ने बहुत ही सुकुमार तूलिका से चित्रित किया है। ऐसे सुंदर चित्र कवि ने अपने गीति काव्य में प्रस्तुत किये हैं कि कवि की कल्पना के साकार चित्र पाठकों और श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। सूरसागर के पदों में शृंगार के भाव और विभाव पक्ष के सुन्दर और अनूठे चित्रण मिलते हैं। एक एक भाव और एक एक घटना को कवि ने अपने पद में रचनाबद्ध किया है और राधाकृष्ण के रूप वर्णन के सैंकड़ों पद उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं से ओतप्रोत रचे हैं। आँख को ही लेकर कवि ने अनेकों सजीव उक्तियाँ काव्य में प्रस्तुत की हैं। एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है—

देखि री ! हरि के चंचल नैना
खंजन मीन मृगज चपलाई, तहिं पटतर एक सैन ॥
राजिव दल इंदीवर, शतदल, कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै विकसत, ये विकसे दिन राति ॥
अरुन असित सित झलक पलक अति, को बरनै उपमाय।
मानो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हो आय ॥

नेत्रों के प्रति उपालम्भ का उदाहरण देखिए:—

सींचत नैन-नीर के, सजनी ! भूल पतार गई।
विकसित लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी ! सब तन पसरी छुई।

हरि के विरह में गोपियाँ मधुवन को सम्बोधित करके कहती हैं—

मोहन सुनु तब बात हमारी !

निरखि निमेष स्याम सुन्दर के नाहिं मनो न रहे !

तुम ही निलज, लाज नहिं तुम को, फिर फिर पहुँचहि ।

....

बालगोपाल कृष्ण के स्वाभाविक भावों की सरल पूर्ण छवि ने कितने सरल और सरस रूप में मुखरित की है:—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?

किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।

तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ॥

....

वास्तव में सूरसागर मुक्तक काव्य का वह भंडार है कि जिसमें प्रगीति काव्य का जो रूप भी कोई साहित्य समीक्षक खोजना चाहे उसे वहाँ प्राप्त हो सकता है।

सूर के पश्चात् कृष्ण भक्तिधारा के प्रायः सभी कवियों ने मुक्तक पदों की रचना की है और राधा कृष्ण को आधार मानकर असंख्य पद लिखे हैं। इस दिशा में कुम्भनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यह सभी अष्टछाप के प्रमुख कवि हुए हैं। गीति-काव्य की जो परम्परा सूरसागर द्वारा महाकवि सूरदास जी ने साहित्य में प्रस्तुत की उसका अनुकरण बाद में आने वाले सूर साहित्य के प्रायः सभी कवियों ने किया। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त यहाँ पर हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, मीरा, हरिदास, सूरदास मदनमोहन, रसखान इत्यादि के मुक्तक साहित्य को परखा जा सकता है।

किया है और हिन्दुत्व (जो कि उस काल की राष्ट्रीय भावना थी) को लेकर वीर रसपूर्ण रचना की है।

रीति काल के पश्चात् हम सीधे आधुनिक युग में आ जाते हैं, जबकि हिंदी साहित्य का दृष्टिकोण विदेशी साहित्य द्वारा प्रभावित हुआ और अँग्रेजी तथा बँगला साहित्य का अध्ययन करके विद्वानों ने हिंदी साहित्य को परखा। अपने साहित्य की विशेषताओं को सँवारा और विदेशी गुणों को ग्रहण करके उनका हिंदी में प्रयोग किया। वर्तमान युग में प्रगीति-काव्य की इस प्रकार एक बिल्कुल नवीन प्रणाली विकसित हुई जिसमें भारतीयता के साथ ही साथ अँग्रेजी साहित्य का विशेष प्रभाव पड़ा। इंगलैण्ड के रोमांटिक (Mystic) युग के कीट्स, शैले इत्यादि के साहित्य की आत्मा ने हिंदी गीति काव्य और मुक्तक काव्य रचना को प्रभावित किया। मुक्तक काव्य रचना ने वर्तमान युग के साहित्य में अपना चमत्कार दिखलाया वह वास्तव में प्रशंसनीय है। प्रेम, देश भक्ति, प्रकृति चित्रण इत्यादि विभिन्न विषयों पर फुटकल कविताएँ लिखी गईं और उनके संकलन प्रकाशित हुए। इस दिशा में जयशंकर 'प्रसाद', 'निराला', मैथिल शरण गुप्त, सुमित्रा नन्दन पंत, महादेवी वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, दिनकर माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण नवीन, भगवती चरण वर्मा, हरी कृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट इत्यादि लेखकों के प्रयास विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने गीति-काव्य धारा को भी प्रोत्साहन दिया। भाषा, छंद और अलंकारों के विचार से भी इन कवियों ने साहित्य की प्रगति को मौलिकता प्रदान की है।

मैथिलीशरण गुप्त—गुप्त जी का अधिकांश साहित्य प्रबन्धात्मकता को लिए हुए हैं, परन्तु आपने मुक्तक साहित्य का भी सृजन किया है। आपने साकेत के अन्तर्गत भी गीति काव्य प्रणाली का अनुसरण किया है। आपके मुक्तक काव्य में देश भक्ति और रहस्यवाद की भावना प्रधान

जागो फिर एक बार ।
सिंहनी की गोद से छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह, रहते प्राण ? रे अजान ।—

कहकर भारत की तड़पती हुई भावना को प्रोत्साहन दिया है। आपकी मुक्तक कविताएँ तुकांत और अतुकांत दोनों श्रेणी की हैं। निराला जी के काव्य की भाषा संगीतात्मक रहती है और शब्द चित्रों का भावनापूर्ण चित्र अँकित करने में जो दक्षता आपको प्राप्त है वह सरस्वती ने किसी अन्य कवि को प्रदान नहीं की है। स्वयं एक संगीतज्ञ होने के नाते संगीत की दृष्टि से निराला जी का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान युग के प्रगीति काव्य का निराला वह प्रतिनिधि कवि है जिसे काव्य के अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति दोनों पक्षों को मौलिकता प्रदान की है। प्रेम शृंगार की भावना के अतिरिक्त गम्भीर विनोद और तीव्र व्यंग्य की जो चुटकियाँ हमें 'निराला' के साहित्य में मिलती हैं वह अन्यत्र प्राप्त नहीं हो सकती।

सुमित्रानन्दन पन्त—कविवर पंत को मैं वर्तमान युग के काव्य की सरस भावना का प्रतीक मानता हूँ। आपका सम्पूर्ण कविता साहित्य मुक्तक रूप रेखा के ही अन्तर्गत प्रवाहित हुआ है और आपने अपनी स्वतंत्र प्रकृति को प्रबंधात्मकता के बंधन में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया। उच्छ्वास, पल्लव, पल्लविनी, वीणा, ग्रंथि, गुंजन, युगांत, युगवाणी, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल- इत्यादि आपकी कविताओं के सुंदर संग्रह हिंदी साहित्य प्रेमियों द्वारा बहुत ही सहृदयता पूर्वक अपनाए गए हैं। 'पंत प्रकृति का कवि है और जितनी सरसता के साथ प्रकृति में प्राण फूँककर उसका मानवीकरण कविवर पंत ने किया है वह अन्य कोई लेखक नहीं कर पाया है। इसके अतिरिक्त आपकी रचनाओं में शालीनता, चिंतन शीलता, सौम्यता, दार्शनिकता, कल्पना शीलता, उदारता, सौंदर्य की

अभिव्यक्ति, आत्मा की अभिव्यंजना सब अपने विकसित रूप में वर्तमान है। हिंदी साहित्य के आधुनिक मुक्तक काव्य की प्रगति के सारथियों में कविवर पंत का नाम अग्रणी है।

महादेवी वर्मा—आधुनिक युग की गीति-प्रणाली को लेकर महादेवी जी ने उसे जो व्यवस्थित कर दिया वह हिंदी का अन्य कोई कवि नहीं दे सका। आपकी कविताओं के संग्रह 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य गीत', 'दीप शिखा', 'यामा', 'नीहार' प्रकाशित हुए हैं और हिंदी जगत् ने इनका समुचित सम्मान किया है। आपके गीतों में संवेदना है। यदि संवेदना की कवयित्री कहकर भी हम उन्हें पुकार उठें तो कुछ अनुचित न होगा। मैं महादेवी को इस युग की मीरा कहकर पुकारता हूं। महादेवी के गीतों में निराकार शक्ति के प्रति जितनी छटपटाहट है मीरा में भी उसी प्रकार की छटपटाहट अपने आराध्य देव कृष्ण से मिलन की थी।

संक्षिप्त इस प्रकार हमने देखा कि हिंदी साहित्य में मुक्तक काव्य का विकास हुआ। ऊपर महाकाव्य और खंडकाव्य के विकास पर भी हम एक समीक्षक के नाते संक्षिप्त सांकेतिक दृष्टि डाल चुके हैं। आज का साहित्य मानव का साहित्य बनता जा रहा है। मानव के जीवन की गम्भीर व्याख्या करने के लिए साहित्य ने उपन्यास को चुना है। क्योंकि उपन्यास में जीवन के विविध दृष्टिकोणों को लेकर जितने सुन्दर और कलात्मक रूप से प्रकाश डाला जा सकता है उतने सुन्दर और कलात्मक रूप से कविता के बंधनों में बंध कर डालना असम्भव है। कविता में रचनात्मक प्रगति का प्राधान्य है और इसीलिए मानव की अन्तर्वेदना का जितना सजीव और प्रभावशाली चित्र मुक्तक कविता में प्रस्तुत किया जा सकता है उतना साहित्य के किसी भी रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सूर, मीरा, रसखान और महादेवी के एक एक गीत पर कई कई महाकाव्य न्यौछावर किए जा सकते हैं।

है। उक्त चारों प्रकार के अभिनय द्वारा नाट्य काव्य दर्शकों के हृदयों में सफलता पूर्वक रस का स्रोत बहाता है।

नाटक के तत्व

नाटक के विषय में संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब हम नाटक के तत्वों का विवेचन करेंगे। नाटक के तत्वों का विवेचन सही रूप में करने के लिए नाटक की विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है तभी उसके तत्वों का भी समुचित विवेचन किया जा सकेगा। (१) नाटक में पात्रों के व्यक्तित्व को प्रधानता देकर नाटककार कथानक का निर्माण करता है। (२) नाटक में उपन्यास की भांति कथानक को कहने के लिए नाटक-कार के पास कोई स्थान नहीं रहता। कथानक का स्पष्टीकरण उसे पात्रों के कथनोपकथनों और अभिनय की भाव भंगी द्वारा ही कराना होता है। (३) नाटक लिखने का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। इन्हीं तीन प्रधान विशेषताओं को लक्षित करने के लिए नाटककार को सुन्दर कथावस्तु-कथा के अनुरूप आकृति और अभिनय करने वाले पात्र, पात्रों का चरित्र, चित्रण, पात्रों का अभिनय और उद्देश्य की पूर्ति की आवश्यकता है। यहाँ नाटक के तत्वों के रूप में हम प्रधान रूप से वस्तु, पात्र, कथोपकथन, रस और अन्त में नाटक के उद्देश्य पर विचार करेंगे।

वस्तु

वस्तु के दो प्रकार

उपन्यास साहित्य में जिसे कथावस्तु कहते हैं उसीकी आधारभूत कथा नाटक में केवल वस्तु (plot) शब्द द्वारा सम्बोधित की जाती है। उपन्यासों और महाकाव्यों की ही भांति नाटक में भी दो प्रकार की कथाएँ समानांतर रूप से अपनी प्रधानता और गौणता लिए हुए चलती रहती

है। कथा का प्रधान भाग मुख्य और गौण भाग प्रासंगिक कहलाता है और इसी आधार पर मुख्य कथा का सम्बन्ध मुख्य पात्रों के चरित्रों का विकास ही होता है और वह मूल कथा के विकास में भी सहायक होती है। मुख्य कथा का कुछ नाटकीय समीक्षकों ने आधिकारिक नामकरण भी इस नाते से किया है कि नाटक का प्रधान लक्ष्य नायक अथवा स्वामी द्वारा फल प्राप्ति में रहता है और आधिकारिक कथा का आरम्भ से ही प्रवाह फल की ओर हो जाता है। नाटक में प्रासंगिक कथाएं अनेकों भी हो सकती है। जिस प्रकार मुख्य कथा में सिद्धि का फल उसके नायक को ही प्राप्त होता है उसी प्रकार प्रासंगिक कथाओं का फल उनके नायकों को प्राप्त न होकर प्रधान रूप से मुख्य कथा के ही नायक को प्राप्त होता है। इन सिद्धियों से प्रासंगिक कथा के नायकों को भी आंशिक लाभ अवश्य पहुँचता है। उदाहरण स्वरूप राम चरितमानस में लव और कुश का राम की सेना से संग्राम हुआ और उसमें उनकी विजय हुई परंतु इसने विकास राम की ही कथा को मिला। मुद्राराक्षस में चाणक्य ने राक्षस को अपनी राजनीति से पराजित किया परंतु इससे विकास चंद्रगुप्त मौर्य को ही प्राप्त हुआ। इसी प्रकार के नाटकों में अनेकों उदाहरण खोजे जा सकते हैं।

वस्तु के उक्त दो प्रकार कथा की मुख्य कथा और प्रासंगिक कथा अथवा कथाओं के आधार पर किए गए हैं। इसके अतिरिक्त नाटक के वर्ण्य विषय के आधार पर भी नाटकों को विभाजित किया जाता है। वर्ण्य विषय के आधार पर नाटक के आचार्यों ने तीन प्रधान भेद किए हैं। वह भेद निम्न प्रकार हैं :—

प्रख्यात—सर्व प्रथम वह नाटक जिनकी कथा इतिहास, आख्यान अथवा प्रसिद्ध जन-श्रुतियों के आधार पर नाटककार द्वारा अपनाई जाती है। जयशंकरप्रसाद जी के चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, भारतेन्दु जी का मुद्रा-राक्षस इत्यादि नाटक इसी भेद के अन्तर्गत आते हैं।

उत्पाद्य—उत्पाद्य नाटक वस्तु वह होती है जिसे नाटककार अपनी कल्पना से स्वयं गढ़कर तैयार करता है। वर्तमान युग में लिखे जाने वाले सामाजिक नाटक इसी कोटि में रखे जा सकते हैं। आधुनिक सिनेमा के खेलों में प्रायः इसी प्रकार की कथाएँ फिल्मकार अपना रहे हैं।

मिश्रित—उक्त दोनों प्रकार की कथा के भेदों का जिन नाटकों में सम्मिश्रण रहता है उन कथाओं को मिश्रित कहते हैं। इनमें इतिहास की इतिवृत्तात्मकता को कल्पना का आश्रय देकर नाटककार मनोरंजक, चमत्कार और सजीव बना डालता है। इस प्रकार की कथावस्तु को अपनाते समय नाटककार को यह समझना होता है कि वह अपनी कल्पना की उड़ान को मनमानी सीमा तक संचालित नहीं कर सकता। उसे उसके लिए एक सीमा पहिले से बांध लेनी होती है और इतिहास में कल्पना को वह उतनी ही छूट दे सकता है कि जिससे दर्शक उसे कपोल-कल्पित कहकर असत्य न मान बैठें। नाटककार को मूल कथा में फेर बदल करने का अधिकार नहीं होता। हाँ, वह प्रासंगिक कथाओं में अन्तर करके मूल कथा के आकर्षण को अवश्य बढ़ा सकता है। इस प्रकार के नाटक में काल भेद कर देने से कथा उपहासजनक हो सकती है। कृष्ण को राम के समय में नहीं ले जाया जा सकता और अकबर को वीर शिवा जी के काल में नाटककार नहीं रख सकता। मूल कथा की प्रामाणिक सत्यता को बचा कर, भाव के गाम्भीर्य को सुरक्षित रखकर, काल की सीमाएँ निश्चित करके और उचित नामों का दुरुपयोग न करके यदि नाटककार नायक और मुख्य कथा के उत्कर्ष के लिए कवि कुशल कल्पना का प्रयोग करता है तो वह प्रयोग उसकी कथा के सौंदर्य में वृद्धि करेगा। उत्तम रामचरित नाटक में राम का सती सीता को दुबारा वनवास देना राम के चरित्र की दुर्बलता होती यदि कवि ने धोबी वाली कथा का समावेश

उसमें न किया होता और अन्त में अश्वमेध यज्ञ करते समय सीता की स्वर्ण मूर्ति की कल्पना कर राम के चरित्र को ऊपर न उठाया होता।

वस्तु की अवस्थाएँ

नाटक में कार्य—व्यापार के आधार पर भारतीय रूपक—समीक्षकों और पाश्चात्य साहित्य शास्त्रज्ञों ने नाटक की कथावस्तु को पांच भागों में विभाजित करके उसकी पाँच अवस्थाएँ निर्धारित की हैं। यह निम्न प्रकार हैं:—

प्रारम्भ—कथा का प्रारम्भिक भाग प्रारम्भ कहलाता है। यहाँ नाटककार किसी फल की ओर संकेत करता है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्रारम्भ को व्याख्या (Exposition) कहा है। इसमें नाटककार कथा को दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। नाटक का यह भाग बहुत ही आकर्षक होना चाहिए क्योंकि यदि दर्शक का मन नाटक प्रारम्भ होते ही नाटक कथा सूत्र से बंध नहीं गया तो वह आगे भी नाटक में रस न ले सकेगा।

यत्न—कथा का दूसरा भाग यत्न कहलाता है। नायक अपनी इच्छा की पूर्ति का प्रयत्न करता है। विदेशी विद्वानों ने इसे संघर्ष पूर्ण घटना (Incident) कहा है। यह संघर्ष नाटक के बहिरंग और अन्तरंग दोनों को आँदोलित करता है और उसके सम्मुख एक समस्या या आकर्षण उत्पन्न कर देता है। यह समस्या या आकर्षण कथावस्तु के विकास का यहीं से प्रधान अंग बन जाता है और नायक में स्फूर्ति का संचार करता है।

३. प्रत्याशा—नायक के मार्ग में आनी वाली कठिनाइयों का निवारण करके फल प्राप्ति की कथा के इस भाग में आशा दिखलाई देती है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे कार्य के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का

सक्रिय-प्रयत्न (Rising Action) कहा है। यहाँ पहुँच कर वस्तु में आने वाला द्वन्द्व या वस्तु की समस्या मुखरित होने लगती है और उसका झुकाव सीधा फल की ओर जाता है।

४. नियताप्ति—यहाँ पर पहुँचकर फल प्राप्ति के सक्रिय-प्रयत्न (Rising Action) की ग्रन्थि खुल जाती है और सम्भावना प्रत्यक्ष हो जाती है। पाश्चात्य साहित्य-समीक्षक कथा की इस चौथी दशा का चरम सीमा (Crisis) कहते हैं। यह संघर्ष की चरम सीमा होती है और अनिश्चतावस्था (Suspense) की पराकाष्ठा। कथा की इस अवस्था में पहुँचकर संघर्ष का निश्चित रूप से एकरूप हो जाना अनिवार्य हो जाता है।

५. फलागम—यह कथा की अन्तिम अवस्था है जहाँ फल की प्राप्ति होती है। भारतीय नाटक अधिकांश रूप से सुखात होते हैं। इस लिए अन्त में निश्चित रूप से फल प्राप्त होता ही है। पाश्चात्य विद्वानों ने कथा की इस परिस्थिति को अन्तिम अवस्था (Catastrophe) कहा है।

नोट—पाश्चात्य विद्वानों ने कथा की अन्तिम अवस्था (Catastrophe) और संघर्ष (Crisis) के बीच की दशा का रूप भी निश्चित किया है। यह संघर्ष से कार्य की ओर झुकाव की स्थिति होती है जिसका नामकरण डन्यूमा (Denouement) कहा है। इस स्थिति में संघर्ष के एक पक्ष का ह्रास होकर दूसरा पक्ष फल की ओर अग्रसर होता है। भारतीय नाटकों में भी संघर्ष रहता है परन्तु नाटककार उसकी ओर विशेष ध्यान कम देते हैं। पाश्चात्य नाटककारों ने संघर्ष को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। संस्कृत-नाटककारों ने अपने नाटकों में संघर्ष को रखा अवश्य है परन्तु स्पष्ट रूप में न रखकर अनुमेय रूप में रखा है।

अर्थ प्रकृतियाँ—अर्थ प्रकृतियाँ कथावस्तु को कार्य की ओर ले जाती हैं। अर्थ प्रकृतियाँ पाँच हैं—(१) बीज (२) बिन्दु (३) पताका (४)

प्रकरी (५) और कार्य। बीज में जिस प्रकार फल का भाव है उसी प्रकार अर्थ प्रकृति बीज में नाटक के फल की भावना है।

संधियाँ—संधि मेल को कहते हैं। संधियों द्वारा अवस्थाओं का अर्थ प्रकृतियों से मेल कराया जाता है। संधियाँ भी नाटक में (१) मुख (२) प्रतिमुख (३) गर्भ (४) विमर्श या अवमर्श तथा (५) उपसंहार इत्यादि पाँच हैं। मुखसंधि द्वारा प्रारम्भ अवस्था के साथ मेल होने से अनेकार्थ द्योतक बीज उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् प्रतिमुख संधि के अन्तर्गत बीज लक्षित और अलक्षित रूप से विकसित होता है। गर्भ संधि में क्योंकि फल छिपा रहता है इसलिए साहित्यकारों ने उसका नाम गर्भ संधि रखा। विमर्श, नियताप्ति और पताका के योग का वर्णन है। निर्वहण संधि द्वारा कार्य और फलागम के योग के साथ नाटक का अन्त होता है। अर्थ प्रकृति और अवस्था के मेल से जिस कथानक का निर्माण होता है उसके सुन्दरतम स्थानों का नाम नाटक में संधियाँ होता है।

अर्थोपक्षेपक—नाटक की कथावस्तु के प्रायः दो भाग होते हैं : एक रंगमंच पर दृश्य श्रव्य के रूप में आता है और दूसरे जिसका पात्रों द्वारा संकेत कराया जाता है वह सूच्य कहलाते हैं। कुछ दृश्य ऐसे भी होते हैं जो कि रंगमंच के लिए वर्जित हैं, जैसे स्नान, भोजन, विप्लव इत्यादि। यह दृश्य विशेषक कहलाते हैं। अर्थोपक्षेपक सूच्य वस्तु की सूचना देने का साधन है।

विष्कम्भक—विष्कम्भक वस्तु का वह भाग है जिसमें आगे होने वाली या पीछे हुई घटना का ज्ञान कराया जाए और उसकी सूचना दी जाए। यह सूचना देने वाले पात्र कभी भी प्रधान पात्र नहीं होते। विष्कम्भक का प्रयोग कथावस्तु में नाटक के प्रारम्भ में होता है, अथवा कहीं दो अंकों के बीच में होता है।

चूलिका—रंगमंच पर कभी-कभी कोई सूचना पर्दे के अन्दर से दी जाती है। यह सूचना चूलिका कहलाती है।

अङ्कास्य—जब कोई अंक समाप्त हो जाता है तो उसके रंगमंच से बाहर जाने वाले पात्र आगामी अंक की कुछ सूचना दे जाते हैं। इसी को अंकास्य नाम से नाट्य साहित्य के समीक्षकों ने पुकारा है।

अङ्कावतार—रंगमंच पर से कभी-कभी पात्र बाहर जाकर अन्दर आ जाते हैं और इस प्रकार दूसरा अंक प्रारम्भ हो जाता है। इस क्रिया को अंकावतार कहते हैं।

प्रवेशक—घटनाओं की सूचना प्रवेशक द्वारा दी जाती है। इसमें निम्न कोटि के पात्र होते हैं और अंकों के बीच इसका स्थान रहता है।

चरित्र-चित्रण (पात्र)

नाटक के विविध अंगों पर दृष्टि डालते समय समीक्षक के नाते नाटक की कथावस्तु के पश्चात् हमारा ध्यान कथा के पात्रों की ओर जाता है। नाटककार अपने पात्रों द्वारा ही अपने विचारों का स्पष्टीकरण कर सकता है। इसलिए किसी भी नाटककार का चरित्र-चित्रण जितना सुन्दर और सजीव होगा उतना ही वह अपने विचारों के स्पष्टीकरण में फलीभूत होगा। नाटक के पात्रों में कुछ पात्र बहुत महत्वपूर्ण होते हैं और उन्हीं के संकेत पर कथावस्तु को नाचना होता है।

नायक

नाटक का नायक उस नाटक का प्रधान पात्र है। नायक नेता का दूसरा नाम है। नायक ही वस्तु को फल की ओर ले जाता है। यूँ तो साधारण रूप से ही नाटक या उपन्यास को देखने से नायक का पता चल जाता है परन्तु जहाँ न चले वहाँ समीक्षक को विचारना होगा कि वस्तु का फल किसके हाथ में है? जिस व्यक्ति के उत्थान और पतन, शोक और सुख

(३) धीरप्रशांत ।
(४) धीरोद्धत ।

चारों में धीरता का होना अनिवार्य है ।

धीरोदात्त—धीरोदात्त नायक वास्तव में मानव के सभी अच्छे गुणों का प्रतीक है । उसके जीवन में गम्भीरता रहती है और उसका चरित्र सर्वदा क्षमाशील होता है । अहंकार उसके जीवन को छू तक नहीं जाता और वह जो कुछ करने का संकल्प करता है उसे दृढ़ता से करता है उसे मर्यादा पुरुषोत्तमराम इस प्रकार के नायक के प्रतीक हैं ।

२. धीर ललित—धीर ललित नायक का स्वभाव बड़ा कोमल होता था । इस प्रकार के नायक विशुद्ध शृङ्गार की रचनाओं में मिलते हैं । महाकवि कालिदास की 'शकुंतला' का नायक दुष्यन्त इसी प्रकार का नायक है ।

३. धीर प्रशांत—इस प्रकार का नायक क्षत्रिय गुणों से युक्त न होकर वैश्य या ब्राह्मण गुणों से युक्त होता है । 'मालती माधव' का 'माधव' इसी प्रकार का नायक है ।

४. धीरोद्धत—धीरोद्धत नायक मायावी होता है । उसके जीवन में कपट का समावेश रहता है । उसके व्यवहार से धोकेबाज़ी फूटी पड़ती है । रावण, मेघनाद, इत्यादि इसी प्रकार के चरित्र हैं । जिन नाटकों में इन्हें नायक स्वरूप लिया जाएगा, उन नाटकों का नायक धीरोद्धत नायक कहलाएगा ।

नायक का ठीक विपक्षी पात्र नाटक में प्रतिनायक कहलाता है । प्रति नायक प्रतिनायक की प्रवृत्तियाँ सर्वदा धीरोद्धत होती हैं ।

विदूषक विदूषक शब्द का अँग्रेजी में पर्याय (Clown) क्लाउन है । नाटक में हास्य रस पूर्ण सामग्री को प्रस्तुत करना इसी पात्र का कार्य होता है । अधिकतर विदूषक ब्राह्मण होता है । प्रसाद का मुद्गल

पात्र जो कि उन्होंने स्कन्दगुप्त नाटक में प्रयुक्त किया है इसी प्रकार का पात्र है।

इनके अतिरिक्त नाटकों में और भी अनेकों प्रकार के पात्र होते हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ पर सभी पर विचार नहीं किया जा सकता।

चरित्र-चित्रण

नाटक के पात्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब हम चरित्र-चित्रण पर आते हैं। नायक में उपन्यास के समान विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण नाटककार द्वारा नहीं किया जाता। पात्रों के व्यक्तित्व का विकास पात्रों के कथनोपकथनों द्वारा होता है। परोक्ष और अभिनय द्वारा भी पात्रों के विकास पर प्रकाश पड़ता है। नाटक के एक पात्र का विकास दूसरे पात्र की विकसित अथवा अविकसित अवस्था पर आधारित है। स्वगत कथनों द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। कथावस्तु के विकास द्वारा भी नाटक के पात्र संचालित होते हैं और उसका नायक के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार नाटक के प्रायः सभी पात्रों के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होते हैं। एक प्रतिभासम्पन्न नाटककार सुन्दर और व्यवस्थित कथा, कथनोपकथन और पात्रों के चरित्रों को विकासोन्मुख बनाता है।

नाटकीय लाघव—नाटककार को नाटक साहित्य में कथनोपकथनों को बहुत छोटा करके लिखना चाहिए। किसी वाक्य को नाटक में इतना लम्बा रूप नहीं दिया जा सकता जितना कि उपन्यास में दिया जा सकता है। छोटे से छोटे साधनों द्वारा अधिकाधिक विचारों का स्पष्टीकरण करने वाली इस नाटक की विशेषता को नाटकीय लाघव (Dramatic Economy) कहते हैं।

कथोपकथन

नाटक की रचना प्रणाली में कथनोपकथनों का बहुत ही महत्व पूर्ण स्थान है। उपन्यास, कहानी, महाकाव्य तथा खण्डकाव्यों की रचना में लेखक विश्लेषणात्मक ढंग से न तो पात्रों का ही निर्माण कर सकता है और न विस्तार के साथ जीवन के अंतरंग और बहिरंग का ही दिग्दर्शन कराने में वह समर्थ होता है। नाटक में कथा का विकास कथनोपकथनों पर आधारित होता है और कथनोपकथनों की रचना में लेखक को नाटकीय लाघव (Dramatic Econvmy) से कार्य संचालित करना होता है। कथनोपकथन चुस्त होने आवश्यक हैं और विषय से हटकर नहीं चलने चाहिएँ। यही कलाकार की कुशलता के प्रतीक हैं।

हिन्दी का नाट्य साहित्य दिन प्रतिदिन परिवर्तित होता ही चला जा रहा है और पुरानी मान्यताओं के बन्धन दिन प्रतिदिन ढीले पड़ रहे हैं। आज के युग में प्रत्येक रचना संक्षेप की ओर अग्रसर है क्योंकि आज के व्यक्ति के पास समय नहीं। साहित्यकार भी चाहता है कि वह संक्षेप में सब कुछ कह जाए। नाटक में कथनोपकथन ही कहने के साधन हैं और इसलिए नाट्य साहित्य के विकास के लिए सूक्ष्म विचारों तक पहुँचने वाले तीखे कथनोपकथनों द्वारा ही नाट्य साहित्य की रोचकता को स्थायी रखा जा सकता है और उनमें विचारात्मकता की भी गम्भीर पुट प्रदान की जा सकती है।

अभिनय

नाटक में अभिनय का स्थान किसी प्रकार भी कथनोपकथन से कम नहीं हो सकता। जो बात पात्रों में कई कई कथनोपकथनों से लक्षित नहीं हो सकती वह अभिनय की एक भ्रूभंगी द्वारा पूर्ण की जा सकती है। यदि

नाटक के मूलरूप का विचार करें तो इसका तो उदय ही अभिनय से होता है। नाटक में अभिनय चार प्रकार का होता है आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

आंगिक—आँगिक अभिनय में अंग के संचालन के भिन्न भिन्न प्रकार कहे हैं।

वाचिक—अभिनय वाणी द्वारा आंगिक अभिनय को खोलकर सामने रखता है। मुनि ने वाचिक अभिनय में स्वर शास्त्र का विस्तार के साथ परिचय दिया है।

नाटक में रस और उद्देश्य

भारतीय परम्परा के अंतर्गत नाटक में इसका जो स्थान है पाश्चात्य साहित्य के समीक्षकों ने वही स्थान रचना के उद्देश्य को दिया है। नाटकों में एक रस किसी न किसी अंगी रूप में रहता है और दूसरे रस अंग रूप में आते और चले जाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि रचना में कोई न कोई उद्देश्य प्रधान रूप से रहता है जो हर समय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रचना के अन्दर वर्तमान रहता है। इसी प्रधान उद्देश्य द्वारा लेखक जीवन की मीमांसा अपनी रचना में प्रस्तुत करता है। उद्देश्य का सम्बन्ध रचना के अतिरिक्त और बाह्य संघर्षों से होता है। इन्हीं संघर्षों से प्रेरित होकर पाठक उद्देश्य के ग्रहण करने को अग्रसर होता है। उद्देश्य का लक्ष्य सर्वदा संघर्ष का शमन रहता है। इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार रस और विदेशी परम्परा के विचार से आदर्श नाटक में आदि से अन्त तक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में किसी न किसी प्रकार वर्तमान रहता है। साहित्य की प्रगति इस युग में भावना प्रधानता की ओर से बुद्धि की प्रधानता की ओर को हुई है। इस बुद्धिवादी प्रगति में समस्यात्मक नाटकों के अन्दर समस्या और उद्देश्य ने प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया।

नाटक के प्रधान तत्वों पर ऊपर एक दृष्टि डाल लेने के पश्चात् नाटक की गति विधि पर विचार करने की आवश्यकता होती है। भारतीय शास्त्रकारों ने कौशिकी, सात्वकी, आरभटी और भारती वृत्तियों के अंतर्गत पात्रों के क्रिया संचालन को विभाजित किया है। इन वृत्तियों को साहित्य समीक्षक नाटक की माता स्वरूप मानते हैं।

वृत्तियाँ

१. कौशिकी वृत्ति—शृंगार और हास्य रस के नाटक कौशिकी वृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। यह वृत्ति बहुत ही मनोहर होती है। इस प्रकार के नाटकों में नृत्य और संगीत का बाहुल्य होता है। संगीत की प्रधानता होने के कारण यह माना जाता है कि इसका जन्म सामवेद से हुआ।

२. सात्वती वृत्ति—नाटक की शौर्य, दान, दया इत्यादि भावनाओं का समावेश सात्वती वृत्ति में होता है। इसके अंतर्गत आनन्द की वृद्धि होती है। वीररस की इसमें प्रधानता रहती है और उसमें कहीं कहीं रौद्र की झलक भी आ जाती है। सात्वती वृत्ति का जन्म यजुर्वेद से माना गया है।

३. आरभटी वृत्ति—इस वृत्ति के अन्तर्गत रौद्ररस की प्रधानता रहती है। माया, क्रोध, इंद्रजाल, आघात प्रतिघात इत्यादि का समावेश इसमें मिलता है।

४. भारती वृत्ति—इस वृत्ति के अंतर्गत केवल पुरुष पात्र भी कार्य करते हैं स्त्री पात्र नहीं। भारती वृत्ति का समावेश साहित्य दर्पणकार के मतानुसार सभी रस के नाटकों में प्रयुक्त होता है। भारतेंदु जी के मतानुसार यह वृत्ति केवल वीभत्स रस में ही प्रयुक्त होती है। इसका जन्म ऋग्वेद से माना जाता है।

रूपक अथवा नाटक के प्रधान तत्वों की परीक्षा करने के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि रूपक कितने प्रकार के होते हैं और उनकी क्या क्या विशेषताएं हैं? नाट्य साहित्य के आचार्यों ने रूपक के दस और उपरूपकों के अठारह भेद किए हैं। इनमें रूपक और उपरूपक सभी आ जाते हैं। रूपक और उपरूपक में अन्तर केवल इतना ही है कि रूपक रस प्रधान होते हैं और उपरूपक भावप्रधान। उपरूपकों में नृत्य और संगीत की प्रधानता रहती है। दस रूपक निम्न लिखित हैं:—

१. नाटक—दसों रूपकों में नाटक का प्रधान स्थान है और इसी प्रधानता के फलस्वरूप आज कल रूपक के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा है। नाटक की वस्तु में पांच संधियां, चार वृत्तियां, चौसठ सन्ध्य समीक्षकों ने माने हैं। नाटक में अंकों की संख्या पांच से दस तक हो सकती है। नाटक का विषय पूर्ण रूप से कल्पना पर आधारित नहीं रह सकता। नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। नाटक के प्रधान रस के रूप शृंगार, वीर और करुण रस को अपनाया जा सकता है। भवभूति का उत्तर रामचरित्र नाटक करुण रस का सुंदर उदाहरण है।

२. प्रकरण—प्रकरण में नाटक से केवल इतना पार्थक्य है कि इसका विषय पूर्ण रूप से कल्पित होता है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता रहती है। इसका नायक नाटक के नायक से कुछ कम गुण वाला वैश्य अथवा ब्राह्मण हो सकता है। 'मालती माधव' इस प्रकार के नाटक का उदाहरण है।

भाण—भाण एक का होता है। एक पात्र मंच पर आकर आकाश भाषित रूप में आकाश की ओर को मुँह उठाकर किसी कल्पित पात्र से

बातें करता है। यह नाटक का हास्य प्रधान रूप है जिसमें धूर्त पात्र मंच पर कुछ धूर्तता प्रदर्शित करके दर्शकों के हास्य की सामग्री प्रस्तुत करता है।

४. व्यायोग—यह स्त्री पात्र रहित एक अंक का नाटक है जिसमें वीर रस की प्रधानता रहती है। इसमें मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियाँ वर्तमान रहती है।

५. समवकार—यह तीन अंक का नाटक होता है जिसमें प्रधानतया देव और दानवों की कथा रहती है। बारह तक नायक इसमें रह सकते हैं, इसमें युद्धों का प्रदर्शन होता है।

६. डिम—डिम नाटक में चार अंक और सोलह नायक होते हैं। इसका नायक दैत्य, देव या कोई अवतार हो सकता है। इसमें रौद्र रस की प्रधानता रहती है। जादू और माया जाल का इसमें समावेश रहता है। शृंगार तथा हास्य इसमें वर्जित है। इसमें कौशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है।

७. ईहामृग—ईहामृग का नायक धीरोदात्त होता है। जिस कुमारी से नायक प्रेम करता है वह मृग की भांति विलुप्त हो जाती है। प्रतिनायक इस कुमारी को नायक से छीनने का प्रयत्न करता है। इसमें चार अंक होते हैं। अंत में नायक और नायिका के जीवित रहने पर भी दोनों का मिलना नहीं होता।

८. अङ्क—यह करुण रस प्रधान एकांकी नाटक है जिसका नायक आख्यान प्रसिद्ध होना चाहिए। मुख और निर्वहण संधियों का इसमें समावेश होता है।

९. वीथी—कल्पित विषय का यह एकांकी नाटक होता है जिसमें शृंगार रस की प्रधानता रहती है और उसी के अनुसार कौशकी वृत्ति का इसमें समावेश होता है।

१०. **प्रहसन**—यह एक अंक का हास्य प्रधान नाटक होता है जिसमें मुख और निर्वहण संधियां प्रधान रूप से कार्य करती हैं।

उपरूपकों के अठारह भेद—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थानक, उल्लास, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लिश और भणिका है।

नोट—उक्त नाटकों और उपनाटकों के जो भेद हमने दिए हैं वहाँ शास्त्र ज्ञान के विचार से किए हैं। आज के नाटककार ने किस प्रकार इस रुढ़ियों से अपने को मुक्त किया और क्या रुप साहित्य को प्रदान किया उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

दुखांत और सुखांत नाटक

भारतीय सभ्यता का दृष्टिकोण आदि काल से आशावादी रहा है। यही कारण है कि भारतीय साहित्यकों ने दुखांत साहित्य का सृजन नहीं किया। संस्कृत के प्रायः सभी नाटक सुखांत हैं। परन्तु जब हम साहित्य को जीवन की व्याख्या के रुप में देखते हैं तो कभी कभी यह आशावादी दृष्टिकोण स्वप्न तुल्य दिखलाई देने लगता है। पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को जीवन की व्याख्या मानकर उसके अन्दर यथार्थवादी दृष्टिकोण का समावेश किया है। अच्छे चरित्र और शुभ कार्यों का कर्त्ता सर्वदा जीवन में सुखी ही रहेगा इसके विषय में निश्चयात्मक रुप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जीवन में शठ आनन्द उड़ाते हैं और सत्यवादी ठुकराए जाते हैं। पाश्चात्य साहित्य में दुखांत नाटक लिखे गये और जब अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा तो हिन्दी ने भी प्रणाली को अपनाया। दुखांत नाटक में नायक और नायिका का अन्त मिलन नहीं होगा और अंत में या तो नायक की मृत्यु हो जाती है अथवा नायिका की।

हिन्दी नाटकों का विकास

संस्कृत साहित्य में नाटक

संस्कृत के 'रूपक' शब्द का पर्याय हिन्दी में 'नाटक' हुआ। भरत मुनि ने रूपक को 'नाट्यवेद' कहा है। आपने नाटक के शुभ-अशुभ परिणाम, अभिनय के हेतु, रंगमंच के प्रकार, प्रेक्षागृह तथा नाटक के अन्य उपकरणों का भी विधान किया है। संस्कृत साहित्य में सुन्दर नाटकों का मिलना इस बात का प्रमाण है कि उस काल में नाटक के अंतर्गत उपकरणों और बहिर्गत उपकरणों का पर्याप्त विकास हो चुका था। वस्तुतः और इन तीन प्रधान अवयवों को लेकर इस काल के आचार्यों ने नाटक काव्य और नाट्य शास्त्र का विकास और उत्थान किया। 'अभिनय' के प्रधान तत्वों का भी बहुत छान-बीन के साथ विवेचन आचार्यों ने किया है। सभी कलात्मक लक्षणों से समाविष्ट नाटक को ही आचार्यों ने आदर्श नाटक माना है। आर्य-सभ्यता के अंतर्गत नाटक काव्य और विशेष रूप से रंगमंच को समाज और शासन-सत्ता की ओर से भरसक प्रोत्साहन मिलता था। यही कारण था कि संस्कृत साहित्य ने हमें महाकवि कालिदास और भवभूति जैसे नाटककार और भरत मुनि जैसे नाट्य साहित्य के प्रकांड आचार्य प्रदान किए।

मुसलमान युग

खेद का विषय है कि हिंदी का जन्म और उत्थान संघर्ष काल से पराधीन शासन तथा विकृत सामाजिक परिस्थितियों में हुआ। वीरगाथा काल में देश इतना अव्यवस्थित था कि रंगमंच का विकास होना नितांत असम्भव था। मुसलमान काल में मुसलमानी सभ्यता ने रंगमंच को प्रोत्साहन नहीं दिया और यही कारण था कि यह रंगमंच का काव्य उस काल में प्रस्फुटित न हो सका। इधर-उधर कुछ रियासतों और रजवाड़ों में इसका

१०. **प्रहसन**—यह एक अंक का हास्य प्रधान नाटक होता है जिसमें मुख और निर्वहण संधियां प्रधान रूप से कार्य करती हैं।

उपरूपकों के अठारह भेद—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थानक, उल्लास, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लिश और मणिका है।

नोट—उक्त नाटकों और उपनाटकों के जो भेद हमने दिए हैं वहाँ शास्त्र ज्ञान के विचार से किए हैं। आज के नाटककार ने किस प्रकार इस रुढ़ियों से अपने को मुक्त किया और क्या रुप साहित्य को प्रदान किया उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

दुखांत और सुखांत नाटक

भारतीय सभ्यता का दृष्टिकोण आदि काल से आशावादी रहा है। यही कारण है कि भारतीय साहित्यकों ने दुखांत साहित्य का सृजन नहीं किया। संस्कृत के प्रायः सभी नाटक सुखांत हैं। परन्तु जब हम साहित्य को जीवन की व्याख्या के रुप में देखते हैं तो कभी कभी यह आशावादी दृष्टिकोण स्वप्न तुल्य दिखलाई देने लगता है। पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को जीवन की व्याख्या मानकर उसके अन्दर यथार्थवादी दृष्टिकोण का समावेश किया है। अच्छे चरित्र और शुभ कार्यों का कर्त्ता सर्वदा जीवन में सुखी ही रहेगा इसके विषय में निश्चयात्मक रुप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जीवन में शठ आनन्द उड़ाते हैं और सत्यवादी ठुकराए जाते हैं। पाश्चात्य साहित्य में दुखांत नाटक लिखे गये और जब अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा तो हिन्दी ने भी प्रणाली को अपनाया। दुखांत नाटक में नायक और नायिका का अन्त मिलन नहीं होगा और अंत में या तो नायक की मृत्यु हो जाती है अथवा नायिका की।

हिन्दी नाटकों का विकास

संस्कृत साहित्य में नाटक

संस्कृत के 'रूपक' शब्द का पर्याय हिन्दी में 'नाटक' हुआ। भरत मुनि ने रूपक को 'नाट्यवेद' कहा है। आपने नाटक के शुभ-अशुभ परिणाम, अभिनय के हेतु, रंगमंच के प्रकार, प्रेक्षागृह तथा नाटक के अन्य उपकरणों का भी विधान दिया है। संस्कृत साहित्य में सुन्दर नाटकों का मिलना इस बात का प्रमाण है कि उस काल में नाटक के अंतर्गत उपकरणों और बहिर्गत उपकरणों का पर्याप्त विकास हो चुका था। वस्तुतः और इस तीन प्रधान अवयवों को लेकर इस काल के आचार्यों ने नाटक काव्य और नाट्य शास्त्र का विकास और उत्थान किया। 'अभिनय' के प्रधान तत्वों का भी बहुत छान-बीन के साथ विवेचन आचार्यों ने किया है। सभी कलात्मक लक्षणों से समाविष्ट नाटक को ही आचार्यों ने आदर्श नाटक माना है। आर्य-सभ्यता के अंतर्गत नाटक काव्य और विशेष रूप से रंगमंच को समाज और शासन-सत्ता की ओर से भरसक प्रोत्साहन मिलता था। यही कारण था कि संस्कृत साहित्य ने हमें महाकवि कालिदास और भवभूति जैसे नाटककार और भरत मुनि जैसे नाट्य साहित्य के प्रकांड आचार्य प्रदान किए।

मुसलमान युग

खेद का विषय है कि हिंदी का जन्म और उत्थान संघर्ष काल से पराधीन शासन तथा विकृत सामाजिक परिस्थितियों में हुआ। वीरगाथा काल में देश इतना अव्यस्थित था कि रंगमंच का विकास होना नितांत असम्भव था। मुसलमान काल में मुसलमानी सभ्यता ने रंगमंच को प्रोत्साहन नहीं दिया और यही कारण था कि यह रंगमंच का काव्य उस काल में प्रस्फुटित न हो सका। इधर-उधर कुछ रियासतों और रजवाड़ों में इसका

१०. प्रहसन—यह एक अंक का हास्य प्रधान नाटक होता है जिसमें मुख और निर्वहण संधियां प्रधान रूप से कार्य करती हैं।

उपरूपकों के अठारह भेद—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थानक, उल्लाप, काव्य, प्रेङ्खणा, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लिश और मणिका है।

नोट—उक्त नाटकों और उपनाटकों के जो भेद हमने दिए हैं वहाँ शास्त्र ग्रन्थ के विचार से किए हैं। आज के नाटककार ने किस प्रकार इन रूढ़ियों से अपने को मुक्त किया और क्या रूप साहित्य को प्रदान किया इसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

हिन्दी नाटकों का विकास

संस्कृत साहित्य में नाटक

संस्कृत के 'रूपक' शब्द का पर्याय हिन्दी में 'नाटक' हुआ। भरत मुनि ने रूपक को 'नाट्यवेद' कहा है। आपने नाटक के शुभ-अशुभ परिणाम, अभिनय के हेतु, रंगमंच के प्रकार, प्रेक्षागृह तथा नाटक के अन्य उपकरणों का भी विधान दिया है। संस्कृत साहित्य में सुन्दर नाटकों का मिलना इस बात का प्रमाण है कि उस काल में नाटक के अंतर्गत उपकरणों और बहिर्गत उपकरणों का पर्यात विकास हो चुका था। वस्तुतः और इस तीन प्रधान अवयवों को लेकर इस काल के आचार्यों ने नाटक काव्य और नाट्य शास्त्र का विकास और उत्थान किया। 'अभिनय' के प्रधान तत्वों का भी बहुत छान-बीन के साथ विवेचन आचार्यों ने किया है। सभी कलात्मक लक्षणों से समाविष्ट नाटक को ही आचार्यों ने आदर्श नाटक माना है। आर्य-सभ्यता के अंतर्गत नाटक काव्य और विशेष रूप से रंगमंच को समाज और शासन-सत्ता की ओर से भरसक प्रोत्साहन मिलता था। यही कारण था कि संस्कृत साहित्य ने हमें महाकवि कालिदास और भवभूति जैसे नाटककार और भरत मुनि जैसे नाट्य साहित्य के प्रकांड आचार्य प्रदान किए।

मुसलमान युग

खेद का विषय है कि हिंदी का जन्म और उत्थान संघर्ष काल से पराधीन शासन तथा विकृत सामाजिक परिस्थितियों में हुआ। वीरगाथा काल में देश इतना अव्यस्थित था कि रंगमंच का विकास होना नितांत असम्भव था। मुसलमान काल में मुसलमानी सभ्यता ने रंगमंच को प्रोत्साहन नहीं दिया और यही कारण था कि यह रंगमंच का काव्य उस काल में प्रस्फुटित न हो सका। इधर-उधर कुछ रियासतों और रजवाड़ों में इसका

प्रचलन रहा परन्तु वह न के बराबर। नाट्य का इस प्रकार भारतवर्ष में यह ह्रास-काल था जब मुसलमान-धर्म के कट्टरवाद ने साहित्य की इस प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। इस काल में यह सही है कि नाटक-साहित्य न पनप सका परंतु रंगमंच ने दो रूप धारण कर लिए—एक कीर्तन का स्वरूप और दूसरा नौटंकी का स्वरूप। धार्मिक क्षेत्र में जहाँ कृष्णभक्ति का आधार लेकर कीर्तन की परम्परा चल पड़ी और जनता को नेतावाद की विभूति के कलात्मक तथा मानवात्मक दर्शन हुए वहाँ ग्रामीण जनता को नौटंकी के रूप में नाटक का ही विकृत या ग्रामीण रूप देखने को मिला। इस काल में रंगमंच का उत्थान केवल इन्हीं दो क्षेत्रों मे अपनी परिमित सीमा बाँधकर हुआ उसके मुक्त प्रभाव और उत्थान के लिए उचित क्षेत्र और प्रोत्साहन प्राप्त न हो सका।

अंग्रेजी शासन काल और गद्य का विकास

मुसलमानी शासन-सत्ता के साथ-ही-साथ मुसलमानी धर्म की कट्टरवादी रूढ़ियां भी समाप्त हो गईं और उनके स्थान पर आया। अंग्रेजों का स्वच्छन्द काल, या मुक्तकाल अथवा उच्छृंखल काल भी उसे हम कह सकते हैं। समाज के दृष्टिकोण में एक क्रांति की लहर दौड़ गई। कहाँ एक ओर नारी को घरों में बन्द करके

था। जनता भी साहित्य के केवल एक ही दृष्टिकोण से ऊब चुकी थी। वह देश में नवीनता चाहती थी, समाज में नवीनता चाहती थी और साथ ही साथ साहित्य में भी नवीनता चाहती थी। अँग्रेजी राज्यों ने अँग्रेजी साहित्य का प्रचलन भारत में अपना काम चलाने के लिए किया। उसके फल स्वरूप उसका प्रभाव भारत के विविध प्रादेशिक साहित्यों पर पड़ा। मद्रास और बंगाल की तो अंग्रेजी मातृ-भाषा ही समझो बन गई और वहाँ के भिखारियों तक ने अँग्रेजी में मांगना प्रारम्भ कर दिया।

नाटक अभिनय-प्रधान साहित्य है जिसमें काव्य के रंगमंच का महत्व कुछ अधिक नहीं तो कम मानना भी भूल ही है। आर्य सभ्यता में मानव स्वतन्त्र था उच्छृंखल नहीं। इस काल मे उच्छृंखलता के साथ रंगमंच पर नग्न अभिनय की ओर मानव आकर्षित हुआ और प्रगति का अर्थ उसकी भूखी आत्मा ने गलत समझकर विकासवाद पर भी रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्रभाव डाला। परन्तु अँग्रेजी सभ्यता में मानव और साहित्य का जो नग्नतम स्वरूप सामने आता है उसे भारतीय सभ्यता ने ज्यों का त्यों अपनाने में संकोच किया। इसीलिए नाटकीय क्षेत्र के मुक्त वातावरण के उदय में भी मूल प्रवृत्तियां संस्कृत-साहित्य से ही जन्म लेकर आईं और उनमें धार्मिक- सम्मान विशेष रूप से सन्निहित रहा। नाटकीय क्षेत्र में अंग्रेजी और भारतीय विचारधारा का सामंजस्य स्थापित होना आरम्भ हो गया। जीवन के प्रति दोनों का दृष्टिकोण भिन्न भिन्न अवश्य है। भारतीय और अंग्रेजी नाटकीय वर्गीकरण, टैकनीक अथवा कथा वस्तु में भी भेद है, चरित्र-चित्रण के प्रकारों में भी अंतर है, आशावादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण में भी अंतर है परन्तु समय की प्रगति के साथ साथ यह अंतर आप से आप लोप होने लगे और कलाकारों ने बिना आचार्यों की सहायता

के ही अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने को इन प्रतिबन्धों से मुक्त कर लिया।

हिंदी में नाटकों का उदय

प्रारम्भ में जो नाटक हिंदी साहित्य में आए उन्हें हम दो भागों में विभाजित करते हैं। एक वह जो रंग मंच के लिए लिखे गए और दूसरे जिनके लिखने में नाटककार का दृष्टिकोण केवल साहित्यिक ही है। इन्हीं दो धाराओं के अंतर्गत हम हिंदी नाटक-साहित्य का अध्ययन करेंगे। जो नाटक प्रारम्भ में केवल साहित्यिक-काव्य प्रस्तुत करने के दृष्टिकोण से लिखे गए उनमें प्रधानतया कविता ही थी और इसीलिए उन्हें हम नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) भी कह सकते हैं। हनुमन्नाटक और समय सार नाटक इसी प्रकार के हैं। हिंदी साहित्य में नाटकों का उदय मौलिक तथा अनुदित दोनों ही प्रकार से हुआ। प्रथम कलात्मक नाटक जो हिंदी में मिलता है वह प्रबोध चन्द्रोदय अनुवाद है। इसके पश्चात् आनन्द रघुनन्दन और गीता रघुनन्दन नाटक मिलते हैं। अनुदित परम्परा में इसके पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह का शकुन्तला और मौलिक रूप में भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र जी का नहुष मिलता है। यहां तक के नाटकों की भाषा ब्रज भी

सत्य की असत्य पर विजय दिखलाने वाले आदर्श के अनुसार राम और नहुष के आख्यान इत्यादि के आधार पर निर्मित हुआ। यह नाटक साहित्य साधारण समाज के जीवन से दूर था,। मानव के संघर्ष और उसकी परिस्थितियों का उनमें आभास नहीं था और वह आदर्शवाद के कला प्रधान ऊँचे हिंडोले पर झूल रहा था। जीवन के कठोर सत्य का उसमें लेशमात्र भी संकेत नहीं था। मौलिक नाटकों में नाटकीय कला का अभाव था। कथावस्तु का नाटकीय विकास भी नहीं हुआ। **हनुमान्नाटक, समय सार नाटक, करुणामरण नाटक, शकुन्तला उपाख्यान और सभा सार नाटक** आद्योपांत कविता में हैं। इनमें ना तो अंक-विभाजन और दृश्य परिवर्तिन ही है और न पात्रों के प्रवेश अथवा प्रस्थान के चिन्ह हैं। इन नाटकों के लेखक के मंच से कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिए यह रचनाएँ नाटक कहलाने की अपेक्षा नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) कहला सकती है।

हिन्दी नाटक रंग मंच की ओर

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के मतानुसार जानकी मंगल सर्वप्रथम रंग मंच के योग्य नाटक था परन्तु उसकी प्रति उपलब्ध नहीं। दूसरा नाटक इन्द्रसभा है जिसकी रचना सन् १८५३ में सय्यद आगाहसन द्वारा हुई। इस नाटक की भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी है। इस नाटक को खेलने के लिए चारबाग़ लखनऊ में रंग मंच तैयार कराया गया और कहते हैं कि स्वयं वाजिदअलीशाह ने उस नाटक में इन्द्र की भूमिका अभिनीत की। प्राधानता इस नाटक में भी काव्य की ही है। इस नाटक को भाषा का एक उदाहरण देखिए:—

महफ़िले राजा में पुखराज परी आती है।
सारे माशूक़ों की सिरताज परी आती है॥

और आगे बढ़ गई। जहाँ सरकार ने अपनी ओर से एक स्कूल खोला वहाँ जनता ने चंदा एकत्रित करके और दयालु धनवानों से दानस्वरूप धन प्राप्त करके कई-नई विद्या-संस्थाओं को खोल दिया। इन स्कूलों में अंग्रेजी वस्त्रों का प्रचार हुआ और दूसरे अंग्रेजी दफ्तरों में अंग्रेजी वस्त्रों का चलन बढ़ गया। इसके अतिरिक्त फिर उन व्यक्तियों ने भी इन्हीं वस्त्रों को अपनाया जिन्हें सरकारी दफ्तरों इत्यादि से काम पड़ता था। धीरे-धीरे देश भर में अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी बोलचाल, अंग्रेजी वस्त्र (पहनावा) और अंग्रेजी खानपान प्रचलित होता चला गया। भारतीय खानपान अंग्रेजी खानपान से अन्य बातों की अपेक्षा बाद में प्रभावित हुआ।

ऐसे काल में जो साहित्य हिन्दी में रचा गया उस पर देश काल की परिस्थितियों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था।

भारतेन्दु के नाटक

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का रचना-काल सन् १८६७ से ८५ तक रहा। आपने हिन्दी साहित्य को अनुवादित, रूपांतरित और मौलिक तीन प्रकार के नाटक प्रदान किए। रत्नावली, पाखण्ड-विडम्बन, धनंजय-विजय, कर्पूर-मंजरी, मुद्राराक्षस और दुर्लभबन्धु आपके अनुवादित नाटक हैं। इन अनुवादित नाटकों का अधिकांश भाग गद्य में हैं, केवल पद्यांश पद्य में हैं। शेक्सपीयर के Shylock, Bassario, Antorio, Portia, Lorenyo, और Jessica को आपने शैलाक, बसन्त, पुरश्री, लवंग और जसोदा बना दिया। इस प्रकार का नामों में परिवर्तन करके नाटकों के वातावरण में भारतीयता लाने का कवि ने प्रयत्न किया है। आपने अनुवादों में भी मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है। 'कर्पूर-मंजरी' में देव और पद्माकर के कवित्त और सवैयों का प्रयोग इनकी इसी मौलिकता का द्योतक है। उक्त अनुवादों द्वारा आपने

राजनीतिक चालों, प्राचीन आख्यानों, दर्शन और धर्म तथा शृंगार और कल्पना को हिन्दी पाठकों के सम्मुख रखा। विद्या सुन्दर और सत्य हरिश्चन्द्र आपके रूपांतरित नाटक हैं और प्रेमजोगिनी, चन्द्रावली, भारतजननी, भारत दुर्दशा और सतीप्रताप आपकी मौलिक रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त आपने तीन प्रहसन भी लिखे हैं 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्' और 'अंधेर नगरी'। इन प्रहसनों द्वारा भारतेन्दु जी ने पाठकों को मनोरंजन का विषय भी दिया है और पाखण्ड की धज्जियाँ भी उड़ाई हैं।

भारतेन्दु जी के नाटकों में नाटक के कथावस्तु, पात्र और रस तीनों तत्वों पर लेखक ने विस्तार के साथ प्रकाश डाला है।

संस्कृत नाट्य और भा० हरिश्चन्द्र

उपयोगी, स्वाभाविक और कलात्मक तत्वों को नाटक में उचित स्थान दिया है। वस्तु-विषय को प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित के अंतर्गत विभाजित करके स्थान और समय के समन्वय के साथ अर्थ प्रकृति, कार्य-अवस्था और संधियों का सूक्ष्म रूप से विवेचन किया है। पात्रों के स्वभाव, अवस्था, सामाजिक स्थिति और उत्तरदायित्व को ध्यान में रख कर नायक और नायिका के अतिरिक्त अन्य पात्रों का भी यथोचित समावेश नाटकों में मिलता है। विविध पात्रों की भाषाओं में भी नाटककार ने संस्कृत नाटकों की भाँति रखा है।

भारतेन्दु जी के अनुवादित नाटकों में तो हमें केवल अनुवाद का का ही सौन्दर्य देखना है उनमें मौलिकता का तो समावेश हो ही नहीं सकता परन्तु फिर जहां उन्हें मौलिकता लाने का अवसर मिला है वहां वह चूके नहीं हैं। भारतेन्दु जी ने अपने मौलिक और रूपांतरित नाटकों में वस्तु-विषय-तत्व में पुरानी परम्परा का बहुत कम अनुकरण किया है। सत्य हरिश्चन्द्र और चन्द्रावली को छोड़कर शेष सभी नाटकों के

[redacted] [redacted]

है। अपने काल के समाज' अंग्रेजी सभ्यता और उनसे पैदा होने वाली मनोवृत्तियों की छाया आपके नाटकों में मिलती है।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतेन्दु जी के नाटकों की आधार शिला संस्कृत नाट्य शास्त्र होते हुए भी आपने संस्कृत-नाट्य-विधान का पूर्ण रूप से पालन कहीं किया है। संस्कृत नाटकों की भांति आपके नाटक **सत्य हरिश्चन्द, चन्द्रावली और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** नान्दी पाठ से प्रारम्भ होकर प्रस्तावना तथा मूल नाटक के पश्चात् भरत वाक्य पर समाप्त हो जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य सब नाटकों का प्रारम्भ और अन्त भारतेन्दु जी ने अपनी इच्छानुसार किया है। इससे यह सप्ट हो जाता है कि भारतेन्दु जी ने सर्व प्रथम तत्कालिनता की ओर प्रथम चरण रखा। स्वतंत्र प्रकृति के होने के कारण प्राचीन रुढ़िवाद में फंसे रहना इनके लिए असम्भव था।

नाटकों में गीत

नाटकों में भारतेन्दु जी ने सर्वप्रथम गीतों का समावेश किया। अपने गद्य भाग को प्रधानता दी और स्थान स्थान पर गीत लिखकर आंतरिक-भावना का साकार रूप प्रस्तुत किया। स्थूल क्रियाओं की वाह्य अभिव्यक्ति के साथ आंतरिक वेदना अथवा प्रसन्नता का प्रदर्शन और स्पष्टीकरण गीतों द्वारा सर्व सुन्दर रूप से हो सकता है यह प्रणाली सर्व-प्रथम आपने हिंदी साहित्य में प्रस्तुत की। मानव-हृदय के उद्‌गारों की अभिव्यंजना कविता के सरसतम रूप गीतों में रखकर भारतेन्दु जी ने गीतों की उपयोगिता की निर्विवाद दृष्टिकोण पाठकों और दर्शकों के सम्मुख रखा।

हिंदी में एकांकी नाटक

हिंदी में सर्वप्रथम एकांकी नाटकों की रचना भी भारतेन्दु बाबू हरिश-चंद्र ने ही की। **चन्द्रावली और भारत जननी** एकांकी नाटकों के ही प्राचीनतम रूप हैं। आज के युग में एकांकी का जो उदय दिखलाई देता है उस पर

के साहित्य में इस प्रकार की प्रधान भावनाओं का जाग्रत होना अनिवार्य था। अंग्रेज़ी शासन ने भारत की राजनीतिक पराधीनता से लाभ उठा कर यहां के धन माल को भी समेटना प्रारम्भ कर दिया। जिसके फलस्वरूप भारत के आदर्शवादी दृष्टिकोण को ठेस लगी और यथार्थवादी समस्याएँ भारतीय जनता तथा लेखक के सम्मुख नंगे रूप में आकर खड़ी हो गईं।

भारतेंदुजी ने अपने नाटक-साहित्य को छे प्रधान धाराओं में विषय और विचार के आधार पर प्रवाहित किया था। उन्हीं के अनुसार हम उनके समकालीन नाटककारों की रचनाओं को भी विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन इस प्रकार है:—

१. प्राचीन आख्यानों पर आधारित नाटक। (धार्मिकता प्रधान नाटक)
२. राष्ट्रीय और देशभक्ति प्रधान नाटक।
३. ऐतिहासिक नाटक।
४. सामाजिक-समस्या-प्रधान नाटक।
५. स्वच्छंद प्रेम प्रधान (Romantic) नाटक।
६. प्रहसन रचना (हास्य और व्यंग्य-प्रधान नाटक)

धार्मिक-धारा

भारत की प्राचीन धार्मिक प्रणालियों में राम और कृष्ण को लेकर जितने साहित्य की रचना हुई है उतने साहित्य की अन्य किसी नायक को, लेकर नहीं हुई। इस धारा के अंतर्गत भारतेंदु जी के समकालीन लेखकों में शीतल प्रसाद त्रिपाटी, देवकीनंदन खत्री, दामोदर सप्रे, ज्वालाप्रसाद मिश्र, बदरी नारायण 'प्रेमधन', वंदीदीन दीक्षित, देवकीनंदन त्रिपाटी, बलदेवप्रसाद मिश्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कार्तिक प्रसाद, और अम्बिकादत्त व्यास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटककारों ने राम और कृष्ण के चरित्रों को लेकर अनेकों मौलिक नाटकों की रचना की। राम-चरित्र-

प्रधान नाटकों में आनन्द रघुनन्दन और कृष्ण चरित्र प्रधान नाटकों में 'द्वारिकाधीश कृष्ण' का सुन्दर चित्रण किया गया है। राम और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य पौराणिक आख्यानों को लेकर भी इस काल में नाटक लिखे गए। इन नाटकों में गोपीचंद, भक्तप्रह्लाद, दमयंती स्वयंवर, भर्तृहरि, ध्रुव तपस्या, सती सुलोचना, सत्य हरिश्चंद्र इत्यादि को नाटककारों ने अपनी कथाओं में आधार बनाया। इस प्रकार नाटक का क्षेत्र आख्यान-दृष्टिकोण से किसी भी प्रकार काव्य क्षेत्र में संकुचित न रहकर और विस्तीर्ण ही बनता चला गया। नए नए आख्यानों को लेकर जो नाटक रचे गए उन्हें रंग मंच पर अच्छा प्रोत्साहन मिला और पाठकों ने भी उन्हें अपनाया। इन आख्यानों का चित्रण इन नाटकों में नवीनतम दृष्टिकोण को लेकर इस काल के नाटककारों ने किया और उस देश काल के प्रभाव से भी ये नाटक वंचित नहीं रह सके।

राष्ट्रीय धारा

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने सर्व प्रथम **भारत दुर्दशा** नाटक की रचना करके राष्ट्रीयता और देश प्रेम की भावना का नाटक साहित्य में समावेश किया। इनके पश्चात् अम्बिकादत्त व्यास ने **भारत सौभाग्य**, बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने **भारत सौभाग्य**, दुर्गादत्त जी ने **वर्तमान दशा**, गोपालराम गहमरी ने **देशदशा** और प्रतापनारायण मिश्र ने **भारत दुर्दशा** नाटकों की रचना की। इन नाटकों में नवीन विचार धारा तो अवश्य है परंतु नाटकीयता के दृष्टिकोण से यह कुछ विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। संवादों में हृदय उद्गारों का सुन्दर स्पष्टीकरण मिलता है। इन नाटकों में कलात्मक न्यूनता रहने पर भी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का स्पष्टीकरण अवश्य मिलता है। इस विचार धारा के प्रसार का प्रथम चरण ही हमें नाटक साहित्य के प्रथम विकास में देखने को मिलता है। हिंदी नाटक-साहित्य के द्वितीय और तृतीय विकास में

इस धारा ने विशेष उन्नति की। इसकी व्याख्या हम आगे आगे चलकर करेंगे।

ऐतिहासिक धारा

इस धारा को भारतेंदु जी ने 'नीलदेवी' की रचना करके प्रवाहित किया। इनके पश्चात् महाराणा प्रताप, संयोगिता स्वयम्बर, अमरसिंह राठौर, मीराबाई इत्यादि नाटक लिखे गए। सैय्यद शेरअली ने कत्ल हकीकत नाटक की रचना भी इसी काल में की। राधाकृष्णदास के पद्मावती नाटक की रचना का इस काल के ऐतिहासिक नाटकों में उल्लेखनीय स्थान है। गोस्वामी जी के अमरसिंह राठौर ने भी अच्छी ख्याति प्राप्त की। अन्य धाराओं की भाँति इस धारा के नाटकों में भी वही प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं जिनका श्रीगणेश भारतेंदु जी ने किया था। इन नाटकों में प्राचीनता की ओर से नवीनता की ओर प्रस्थान तो दृष्टिगोचर अवश्य होता है, परंतु नवीनता का कोई विशेष आभास नहीं दिखलाई देता। इन नाटकों में नाटककारों ने भारत के ऐतिहासिक गौरव को समाज के सम्मुख रखकर नव चेतना का संदेश दिया है।

सामाजिक धारा

सामाजिक समस्या को लेकर भारतेंदु जी ने प्रेम जोगिनी नाटक की रचना की। इस काल के लेखकों में सामाजिक चेतना राजनैतिक चेतना के साथ ही साथ प्रबल वेग के साथ बलवती होती जा रही थी। भारत का सामाजिक दृष्टिकोण व्यापक और स्वच्छंद होता जा रहा था। एक ओर सुधारकों के खण्डन और मण्डन ने समाज को झकझोर डाला था और दूसरी ओर अँग्रेजी सभ्यता के चमकदार प्रलोभनों में फँसकर समाज प्राचीनता से नवीनता की ओर दौड़ रहा था। नाटक साहित्य पर भी इस वातावरण का प्रभाव पड़ा और इस नवीन दृष्टिकोण

रह गया था और इन्दर सभा जैसे नाटकों का महत्व समाप्त हो चुका था।

भारतेन्दु जी के प्रहसन हास्य प्रधान धारा के अंतर्गत आते हैं।

हास्य प्रधान धारा

हास्य रस के लिए शांत वातावरण और सामान्य में असामान्य प्रस्तुत करने की नाटककार की शक्ति की आवश्यकता है। आजकल पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य चित्र उपस्थित किए जाते हैं और वह मानव के गाम्भीर्य को तोड़कर उसके सम्मुख हास्य-प्रधान वातावरण उपस्थित करते हैं। यदि हर समय मानव गम्भीर ही बना रहे तो वह अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता और जीवन की समस्याओं को हल नहीं कर सकता। हास्य जीवन में नव जागृति का संचार करता है और व्यंग्य तथा नवचेतना उत्पन्न करता है। कभी कभी व्यंग्य में वह प्रखर शक्ति विद्यमान रहती है कि जो उस विषय के गम्भीर से गम्भीर लेख में पा सकती है। इस काल के प्रहसनों में वेश्यावृत्ति के परिणाम, सती स्त्री की निर्बलता और धर्म सम्बन्धी पाखंड इत्यादि विषयों को लिया गया है। बाल कृष्ण का जैसा काम वैसा परिणाम और प्रतापनारायण का कलिकौतुक रूपक इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त एक एक के तीन तीन; बैल छै टके को, ठगी की चपेट, कलयुगी जनेऊ, जैसे को तैसा, बूढ़े मुंह मुहासे, अति अन्धेरी नगरी, देसी कुत्ता विलायती बोल, इत्यादि प्रहसन भी इसी काल में लिखे गए।

अनुवादित नाटक

भारतेंदु-काल में जहां एक ओर हिन्दी साहित्य में मौलिक नाटक रचना उक्त छै धाराओं में प्रवाहित हो रही थी वहाँ हिन्दी केविद्वानों

जालक, मन भावन और प्रेम लीला के नाम से हुए। इन अनुवादों की भाषा अच्छी है और इन्होंने एक नवीन दृष्टिकोण को हिंदी पाठकों तथा नाटककारों के सम्मुख रखा। नाटक साहित्य के दूसरे और तीसरे प्रसारों में पहुँचकर हिंदी साहित्य में मौलिक नाटकों के साथ अनुवादित नाटकों ने भी विशेष उन्नति की।

संक्षिप्त

इस प्रकार हमने हिंदी नाटक साहित्य के प्रथम विकास पर दृष्टि डाली। उस समय की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का ध्यान किया, उस काल की रचनाओं और लेखकों की प्रवृत्तियों को परखा और इस निश्कर्ष पर पहुँचे कि हर प्रकार के वातावरण में एक प्रगति अवश्य थी परंतु क्रांति नहीं। प्राचीन रूढ़ियों को छोड़कर नवीन स्वच्छ वातावरण में पदार्पण करने की प्रेरणा अवश्य थी, परंतु पाश्चात्य सभ्यता ने एक ऐसी उच्छृङ्खलता को जन्म दे दिया था कि लेखक और सुधारक उससे भयभीत होकर अपनी अँतर्भावनाओं का स्पष्टीकरण उतने मुक्त कँठ से नहीं कर सकते थे जितनी कि प्रेरणा उन्हें उनकी आत्मा से प्राप्त होती थी। यही कारण था कि इस काल के नाटकीय साहित्य ने संस्कृत नाट्य साहित्य की परम्पराओं को एकदम नमस्कार नहीं कर दिया। जहां तक काव्य, वस्तु और विचारों का सम्बंध था वहाँ भी और जहाँ तक नाटकीयता का सम्बंध है वहाँ भी लेखक प्राचीनता से नवीनता की ओर चल रहे थे। बंगला साहित्य और अँग्रेजी साहित्य के अनुवाद हिंदी में आए अवश्य परंतु वह हिंदी के नाटकों की आत्मा को न छू सके। हिंदी के मौलिक नाटक अपना स्वच्छंद क्षेत्र बना रहे थे। जो संस्कृत, बंगला और अँग्रेजी के अनुवाद हिंदी में आए भी वह इस काल में पाठकों को अधिक प्रभावित न कर सके। इस प्रकार एक

व्यवस्थित प्रगति और प्रेरणा के साथ हिंदी का नाट्य साहित्य अपने प्रथम विकास से द्वितीय विकास-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ।

द्वितीय विकास

देश और समाज एक तीव्र गति के साथ राष्ट्रीयता, प्रगतिवाद और समाज सुधार की ओर बढ़ रहा था। भावुकता का स्थान बुद्धिवाद लेता जा रहा था। प्राचीन रूढ़ियों की शृंखलाएं आप आप को भार स्वरूप प्रतीत होने लगी थीं। गांधीवाद के प्रभाव से जनता में जनहित की भावना का उदय हो चुका था। प्राचीन ग्रंथों पर नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किए जाने लगे थे। लेखक प्राचीनता को नवीन सांचे में ढालकर राज-नीतिक, सामाजिक और साहित्यि के दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में संलग्न थे। मंथर गति से नाटक साहित्य बढ़ रहा था। उसमें एक नवीन गति का संचार हुआ। इस काल में आकर नाटक साहित्य निश्चित रूप से दो पृथक् क्षेत्रों में बंट गया एक साहित्यिक नाटक और दूसरा रंगमंचीय नाटक। अब हम इन दोनों क्षेत्रों पर पृथक-पृथक् रूप से विचार करेंगे।

साहित्यिक नाटक

धार्मिक धारा

धार्मिक क्षेत्र में राम और राधाकृष्ण को लेकर दर्जनों नाटक रचे गए। 'जनक बाड़ा', 'रामलीला', 'रामाभिषेक', 'रामवन यात्रा', 'रामलीला नाटक', और धनुष यज्ञलीला रामधारा के प्रमुख नाटक हैं और सुदामा, कृष्ण कथा व कंसवध, उद्धव, इत्यादि कृष्ण भक्ति धारा के। इन नाटकों में नवीनता बहुत कम है। न वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही है और न वैज्ञानिक विवेचन ही। वही प्राचीन देवत्ववाद की प्रधानता है। इन नाटकों में गीतों की भरमार है और कला के दृष्टिकोण से भी कोई विशेष उत्कर्ष दिखलाई नहीं देता। पौराणिक आख्यानों को लेकर

नल-दमयन्ती, अभिमन्युवध, अनर्घनल चरित्र, राजा हरिश्चन्द्र, सावित्री नाटिका, शिवाशिव, उर्वशी, सीता चरित्र, शकुन्तला इत्यादि हैं। इसी श्रेणी में जयशंकरप्रसाद का करुणालय और बद्री नाथ भट्ट का कुरुवनदहन भी आ जाते हैं। करुणालय में राजा हरिश्चंद्र की कथा है और कुरुवनदहन है वेणी संहार का रूपांतर। यहा तक के नाटकों को हम प्राचीन युग के अंतिम चरण की अंतिम देन कह कर पुकारते हैं। यहाँ पर प्राचीन से नवीन युग की संधि होती है। कोरी साहित्यिकता से हटकर नाटकों ने अब रंग मंच के क्षेत्र में अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ कर दिया था।

ऐतिहासिक धारा

ऐतिहासिक नाटकों में पुरुविक्रम, सेनापति उदाल, वीर सरदार, चन्द्रगुप्त, तुलसीदास और पन्ना नाटक उल्लेखनीय हैं। इस काल के ऐतिहासिक नाटक हरिश्चंद्र-काल की भांति कोरे आख्यान मात्र न रहकर ऐतिहासिक तत्वों की ओर भी अग्रसर हो चले थे। परंतु फिर भी प्राचीन का वास्तविक चित्र यह पाठकों अथवा दर्शकों के सम्मुख रखने में पूर्ण समर्थ हो पाए हों ऐसी बात नहीं है। इतिहास और जन श्रुति दोनों पर ही इस काल की रचनाएँ आधारित थीं। अलौकिक बातों का नाटकों में समावेश करने के प्रलोभन को अभी तक इस काल के नाटककार छोड़ नहीं पाए थे अथवा यों भी कह सकते हैं कि सत्य में कला के बल पर चमत्कार पैदा करने अथवा भावोद्रेक उपस्थित करने की क्षमता उनमें नहीं थी।

राष्ट्रीय और सामाजिक धारा

एकतंत्रीय शासन व्यवस्थाएँ प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्थाओं में परिवर्तित होती जा रही थीं। विश्व के अनेकों देशों में उथल-पुथल मची और यह उथल-पुथल केवल पराधीन देशों में ही न होकर स्वाधीन देशों में भी थी। समाज अशक्त

होता जा रहा था और यदि यों कह दिया जाए तब भी क्या अनुचित होगा कि समाज ने राष्ट्र की बागडोर स्वयं हाथों में संभाल ली थी। समाज स्वयं राष्ट्र का अंग बन गया और इस प्रकार समाज और राष्ट्र की समस्याएं मिलकर एक हो गई थी। भारतीय समाज अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा लेकर क्रांति के पथ पर अहिंसात्मक रूप से चल पड़ा था और बस यही राष्ट्र का आदर्श था। समाज सुधार और राष्ट्र सुधार दो बातें नहीं रह गई थीं। इसीलिए इस काल में जो समस्यात्मक नाटक लिखे गए उनमें समाजसुधार और राष्ट्रीयसंगठन दोनों समान रूप से प्रस्तुत हुए। इस धारा के नाटकों में वृद्धविवाह, भूषण दूषण, कंठीजनेऊ का विवाह, भारत विजय, दुखिया, वीरेन्द्र वर अर्थात् सत्य, हिंदी साहित्य की दुर्दशा, भारत रहस्य, साहित्यसेवा, छात्रदुर्दशा, ग्राम्य विवाह विज्ञान, उन्नति कहां से होगी ?, नेत्रोन्मीलन इत्यादि आते है परंतु इनमें केवल नेत्रोन्मीलन ही उल्लेखनीय है। इस नाटक में हिंदू और मुसलमान दोनों पात्र हैं और अदालतों का खाका खींचा गया है। उर्दू और पूर्वी बोली के संवाद भी इस नाटक में आए हैं।

प्रेम प्रधान धारा

प्रेमतत्व को लेकर लिखे गए नाटकों में रूपवती, कामिनीकुसुम, कामिनीमदन, रत्नसरोज इत्यादि लिखे गए, परंतु ऊपर दिए गए सभी नाटकों की भांति कोई विशेष कलात्मक महत्व नहीं है। कला के दृष्टिकोण को लेकर इस संधिकाल में कोई विशेष उन्नति नहीं मिलती।

प्रहसन

इस काल में प्रहसन भी लिखे गए। चुंगी की उम्मेदवारी प्रहसन बद्रीनाथभट्ट की इस काल की विशेष देन है।

अनुवादित नाटक

संस्कृत से

इस काल में संस्कृत उत्तररामचरित, मृच्छकटिक, नागानंद इत्यादि के अनुवाद हिंदी में आए इनमें सत्यनारायण कविरत्न जी द्वारा प्रस्तुत उत्तररामचरित विशेष उल्लेखनीय है। यह नाटक बहुत मधुर और सरस भाषा में अनुवादित है। पद्यभाग ब्रजभाषा में है और गद्यभाग खड़ी बोली में। सत्यनारायण जी की लेखनी की प्रौढ़ता और उनकी भावुकता ने इस अनुवाद में मौलिता के प्राण फूंक दिए हैं।

अंग्रेजी से

इस काल में लाला सीताराम जी ने शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद किया। मनमोहन का जाल, भूलभुलैयाँ, रिचर्ड द्वितीय और मेकबेथ इनमें उल्लेखनीय हैं। अनुवादों को पढ़कर पाठकों को कथावस्तु का तो ज्ञान हो जाता है परंतु नाटक की कलात्मकता और रसात्मकता से परिचय नहीं हो पाता।

बङ्गला से

बंगला साहित्य से इसी काल में ब्रजनंदन सहाय ने बूढ़ावर और सप्तम प्रतिमा के अनुवाद किए। अनुवाद सुंदर है परंतु इन्होंने किसी प्रकार हिंदी नाट्यसाहित्य को प्रभावित किया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

—संक्षिप्त—

इस प्रकार इस काल में साहित्यिक नाटकों की जो रचना हुई उनमें पहले काल की अपेक्षा एक सतत परिवर्तनशील प्रवृत्ति के दर्शन होते है। रंगमंचीय आकर्षणों के सम्मुख प्राचीन रूढ़ियां आप से आप मिटनी प्रारम्भ हो चुकी थीं। उच्चकोटि की नाटक रचना इस काल में नहीं हुई, परंतु

गया है। कथावस्तु के विकास में मानवी और अतिमानवी शक्तियों का प्रयोग मिलता है।

इसके पश्चात् आपके नाटकों की ऐतिहासिक धारा प्रारम्भ होती है जिसके अंतर्गत आपने राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु और जनमेजय का नाग यज्ञ नाटक लिखे। इन नाटकों में सहानुभूति और करुणा को लेखक ने प्रश्रय दिया है और प्रतिहिंसा की भावना को भी सहानुभूति में विलीन कर दिया है। यह गाँधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है जिसमें अंग्रेजों के प्रति प्रतिहिंसा की भावना उदय न करके सहानुभूति और करुणा का प्रतिपादन मिलता है। लेखक प्राचीनता से नवीनता की ओर बढ़ता है। इन नाटकों में लेखक का आशावादी दृष्टिकोण रहा है और ऐतिहासिक आख्यानों में भी वर्तमान की स्पष्ट झांकी लेखक ने प्रस्तुत की है। स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त आपके ऐतिहासिक नाटकों में सर्व श्रेष्ठ माने जाते हैं। कामना और एक घूंट आपके प्रतीकवादी नाटक हैं। भौतिक-विलास और राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से जर्जरित मानव को विवेक संतोष से किस प्रकार शांति और मंगलमय जीवन प्राप्त हो सकता है इसी को ओर आदर्श रूप से एक मनोवैज्ञानिक विचारक के नाते प्रसाद जी ने कामना में प्रकाश डाला है। एक घूंट में आपने आदर्श और यथार्थ के भेद को प्रकट किया है। इस प्रकार भारतीय राजनीति, इतिहास, समाज और जीवन के गम्भीर पहलुओं पर आपने अपने नाटकों में विचार किया है। ध्रुवस्वामिनी में आपने नारी समस्या को लिया है। इसी प्रकार आपने इतिहास के आँचल में वर्तमान समाज और मानव की परिस्थितियों को संजोया है।

'प्रसाद' के नाट्य विधान में क्रांति

जहाँ तक नाटकीय विधान का सम्बन्ध है 'प्रसाद' जी ने पूर्ण रूप

से स्वतंत्रता से काम लिया है। नाटकीय तत्वों में भारतीयता और उनके निरूपण में नवीनता का समावेश आपने किया है। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अंगों का परित्याग तो आपके नाटकों में मिलता है परन्तु वह नवीन रूप से हुआ है। आपने प्राचीन भारतीय और पश्चिमी सिद्धान्तों का समन्वय अपने नाटकों में प्रयुक्त किया है। प्रस्तावना और वर्जित विषय वाले गर्भांकों, प्रवेशकों और विष्कम्भकों का समावेश आपने अपने नाटकों में नहीं किया। नाटकों का आरम्भ एक दम दृश्यों से हो जाता है। आप प्रथम अङ्क में ही भावी घटनाओं और समस्याओं की सूचना दे देते हैं। कथावस्तु का विकास मूल घटना से निरंतर होता हुआ चला जाता है। नाटक के अंत तक पहुँचते पहुँचते चरित्रों का पूर्ण विकास हो जाता है। ऐतिहासिक नाटक होने से कवि-कल्पना को स्वच्छंदता नहीं रहती, परंतु फिर भी 'प्रसाद' जी ने कल्पना की सजीवता से घटनाओं की छोटी छोटी कड़ियों को बहुत कलात्मक रूप से जोड़ा है। अंक और दृश्य विभाजन में आपने किसी निश्चित शैली को नहीं अपनाया। जहाँ पर जैसा उपयुक्त समझा है वहाँ वैसा ही विधान प्रयोग में लिया है। राजश्री में अङ्कों के स्थान पर केवल संख्या का प्रयोग किया है और स्कन्दगुप्त में संख्या भी न देकर 'पटपरिवर्तन' और 'पटाक्षेप' लिखकर ही काम चला लिया है। प्रसादजी का अपने से पूर्व के नाटक साहित्य से किन किन बातों मे पार्थक्य है। यह अब हम क्रमिक रूप से प्रसादजी के नाटकों के कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण और आदर्श का विवेचन करते समय स्पष्ट करेंगे।

कथावस्तु—कथावस्तु के विचार से हम प्रसादजी के नाटकों को ऐतिहासिक, पौराणिक और भावात्मक तीन प्रकारों में विभाजित करते हैं। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में प्राचीन संस्कृति के नवीन दृष्टिकोण का कोमल भावना द्वारा चित्रांकन किया है। 'प्रसाद' जी

से पूर्व का नाट्य इतिह.स आख्यान स्वरूप आया है। वह सत्य में कल्पना का प्रयोग न होकर गल्प में चमत्कार की उडान मात्र है। इस प्रकार वह नाटक इस पृथ्वी पर रहने वाले नायक का इतिहास न होकर आकाश में पर लगाकर उड़ने वाले मानवों के इतिहास हैं और उन्हें पढ़कर अथवा रँगमँच पर देखकर पाठक अथवा दर्शक अपने प्राचीन से अपना सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ रह जाता है। 'प्रसाद' जी ने इतिहास का अध्ययन किया है और आदियुग से बौद्धकाल तक की संस्कृति का विकास इस क्रम के साथ अपने नाटकों में रखा है कि उन नाटकों की पृष्ठभूमि पर एक सुसंगठित इतिहास का जीवित चित्रण उपस्थित हो गया है। इतिहास का अध्ययन करके जहाँ एक ओर आपने सत्य की खोज की है वहाँ दूसरी ओर इस बात का भी ध्यान रखा है कि कहीं नाटकों में इतिवृत्तात्मकता आकर नाटक कोरे शुष्क कथानक मात्र ही न रह जाएँ। आपने किस प्रकार आपने नएँ पात्रों का निर्माण अपनी कल्पना के आधार पर किया है यह हम पात्रों का विवेचन करते समय पाठकों के सम्मुख रखेंगे।

चरित्र-चित्रण—आपके नाटकों में पात्र अधिकतर ऐतिहासिक है परन्तु ऐतिहासिक होने पर भी आपने इच्छित भावनाओं की पूर्ति के लिए नए पात्रों का निर्माण किया है और इस प्रकार घटनाओं के संबंध निर्वाह की ओर भी सूक्ष्म रूप से ध्यान दिया है। चन्द्रगुप्त की मालविका और अलका, स्कंदगुप्त की देवसेना और विजया इत्यादि इसी प्रकार प्रसाद जी के काल्पनिक पात्र हैं जिनका समावेश नाटककार ने तत्सम्बंधी घटनाओं की कमी को पूर्ण करने के लिए किया है। इस प्रकार इतिहास के सच्चे पात्रों को हम स्वाभाविक पात्र कहते हैं और काल्पनिक पात्रों को परिस्थितिजन्य। यों तो सच्चे चरित्रों का भी विकास परिस्थितियों में ही पड़कर होता है परन्तु परिस्थितियों में जिन तत्वों के निरूपण की

कमी रह जाती है वहाँ पर कवि 'प्रसाद' ने नए चरित्र प्रस्तुत किए हैं। 'प्रसाद' जी ने पात्रों में मानवीकरण की भावना का समावेश किया है और अपने नाटकों के पात्रों को दर्शकों की अपनी जीवन-सीमा में लाकर बिठला दिया है। 'प्रसाद' जी ने चरित्रों का सूचनात्मक और विकासात्मक दोनों प्रकार का चित्रण किया है। प्रधान पात्रों का विकासात्मक विश्लेषण है और साधारण पात्रों का केवल सूचनात्मक। पात्रों के चरित्रों का विकास स्वगत कथन और अन्य पात्रों के आपस के कथोपकथनों में होता है। कथोपकथनों में चरित्र-चित्रण करते समय 'प्रसाद' जी ने बहुत सतर्कता से काम लिया है। आपने देवता, राक्षस और मानव तीनों प्रकार के पात्रों का चित्रण किया है। देव चरित्रों में गौतम, प्रेमानन्द और वेदव्यास इत्यादि हैं। इनमें वैराग्य की भावना और संसार से तटस्थता पाई जाती है और इनके जीवन में निर्वेद की भावना का प्राधान्य है। दार्शनिक तत्वों के निरूपण में ऐसे चरित्रों का अच्छा विकास हुआ है। काश्यप, देवदत्त शांतिभिक्षु और विरुद्धक इत्यादि आपके राक्षस वृत्ति वाले पात्रों के अन्तर्गत आते हैं। संसार की तामसिक और कलुषित भावना को चित्रित करने के लिए 'प्रसाद' जी ने इन पात्रों को लिया है। सत् और असत् दोनों ही भावनाओं के दो आदर्शवादी दृष्टिकोणों को आपने देवता और राक्षस के चरित्रों का चित्रण करके पूर्ण किया है। इन दो दृष्टिकोणों का मध्यवर्ती मार्ग है मानव और मानव चित्रण करने में प्रसाद जी ने बहुत सहानुभूति दिखलाई है। न तो मानव को देवता ही बनाने का प्रयत्न किया है और न उसे राक्षस ही बनाया है। मानव जीवन की अच्छाई और बुराई का समन्वय करके ही उसके चरित्र का निर्माण किया है। 'प्रसाद' जी ने नारी पात्र को अपने नाटकों में प्रधानता दी है और पुरुष को नारी विहीन छोड़ना मानो उन्हें अस्वाभाविक सा ही जचता है। यहाँ तक कि चाणक्य जैसे ऋषि

कथोपकथन—भारतेन्दु काल में जिस प्रकार के कथोपकथनों का प्रचलन नाटकों में हुआ था उनमें तार्किक शैली का विकास मिलता है। हरिश्चन्द्र के नाटकों में भावुकता अवश्य मिलती है, परन्तु आपके बाद लिखे गए नाटकों में मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ ही साथ भावुकता को कथोपकथनों में विशेष स्थान दिया है। आपने 'स्वगत' और 'सूच्य' दोनों शैलियों को अपनाया है। भावुकता के आवेश में आकर कहीं कहीं पर अनावश्यक भाषण भी लिखे गए हैं जिनसे नाटकों की स्वाभाविकता और सौन्दर्य भी कहीं-कहीं नष्ट हो गई है। सम्वादों का सुन्दर विकास हमें आपके स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, और ध्रुवस्वामिनी नाटकों में देखने को मिलता है। सम्वादों में अन्तर्द्वन्दों का अच्छा चित्रण है।

आदर्श

भारत की प्राचीन परम्परा आदर्शवादी रही है और यह जानकर भी कि जीवन सुख और दुख दोनों का सम्मिश्रण है, साहित्यकारों ने सुखांत दृष्टिकोण ही नाटकों के सम्मुख रखा है। नाटकों के मध्य में जीवन चाहे सुख और दुख दोनों परिस्थितियों में

से होकर प्रवाहित हो परन्तु उसका अंत दुखमय नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा होने से पाठक जीवन के प्रति उदासीन होकर कर्तव्यपरा-यणता को तिलांजलि दे डालेगा। इसलिए भारतीय नाटककारों का आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण ही रहा है। पीछे हम देख चुके हैं कि अंग्रेजी नाटकों के प्रभाव से हिंदी में दुखांत नाटकों की प्रणाली भी प्रचलित हो चुकी थी। 'प्रसाद' जी ने इस दुखांत भावना को ज्यों का त्यों न छोड़ कर उसमें दार्शनिक तत्वों का निरूपण किया और आत्मसंतोष की भावना से मानव जीवन को प्रेरित करके दुःखवाद से संघर्ष करने की प्रेरणा दी। आपने कष्ट में कर्तव्य को नहीं भुलाया और कर्तव्यपालन को ही जीवन की चिर शांति का चरम लक्ष्य माना। मानव-जीवन की विभिन्नता में आपने एक तत्व की प्रधानता का ज्ञान कराया और अपने दार्शनिक दृष्टिकोण में हृदयवाद, बुद्धिवाद और कर्तव्यपरायणता का ऐसा सामंजस्य स्थापित किया कि जिसने समय की फैली हुई जनता की सभी भावनाओं को सहानुभूति प्रदान की। किसी के साथ भी संघर्षात्मक दृष्टि-कोण लेकर आप नहीं चले। इस प्रकार आपने अपने साहित्य में जिस भावना को प्रेरणा दी उसमें कई गुम्फित तत्वों का समावेश हो जाने के कारण वह पाठकों को क्लिष्ट सी जंचने लगी और उनके समय के समालोचकों ने उनके साथ सहानुभूति से काम नहीं लिया। आपने मानवी भावों में उदात्तवृत्ति से काम लिया है और आदर्श को कहीं पर भी हाथ से नहीं जाने दिया है।

गीतात्मकता

जैसा कि हम ऊपर से देखते हुए आ रहे हैं प्रसाद जी ने नाटक के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति का संचार किया है। आपने प्रथम बार नाटक में प्राचीन शैली की कविता प्रणाली का अंत करके नवीन प्रणाली का समावेश किया। नाटक में से जहाँ तक कथोपकथनों का सम्बन्ध था वहाँ तक तो कविता को

ुग की प्रजातन्त्रवादी प्रेरणाओं को लेकर मानववादी विचारधारा का ्रतिपादन किया। इस विचारधारा से भारत का साहित्य भी प्रभावित हुए बिना न रहा और विशेष रूप से एक प्रगतिवादी लहर भारत में ौड़ गई। इस प्रगतिवादी धारा का संक्षिप्त विवेचन हम पीछे कविता साहित्य में कर चुके हैं। नाटकीय साहित्य की प्रगति में भी यही विचार-धारा मुखरित हो रही थी। 'प्रसाद'-युग तक भारत में राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता थी। भारतीय इतिहास और आख्यानों के गौरव से आधुनिक जनता में राष्ट्रीय भावना अनुप्राणित की जा रही थी। प्रसाद के पश्चात् मानववाद ने जोर पकड़ा और मानव के साथ मानव-समूह अर्थात् समाज का प्रधान स्थान बना और 'जन' की भावना के साथ साथ जन-हित राष्ट्र, समाज, और साहित्य का प्राण बना।

पौराणिक धारा इस काल में आकर राम और कृष्ण धाराओं में कर्तव्य (पूर्वार्ध), सीताराम, श्रीराम, कर्तव्य, (उत्तरार्ध), राधा और सुदामा, नाटक लिखे गए। इन नाटकों के लेखक सेठ गोविन्ददास, चतुरसेन शास्त्री, उदयशंकर भट्ट और किशोरीदास वाजपेई हैं। इन सब नाटकों में केवल 'कर्तव्य' नाटक उल्लेखनीय है। पौराणिक आख्यानों को लेकर अम्बा, सगर विजय, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, मेघनाद, गंगा का बेटा, नल दमयन्ती, इत्यादि नाटक उदयशंकर भट्ट, चतुरसेन शास्त्री, बेचनशर्मा उग्र और डा० लक्ष्मण स्वरूप ने लिखे।

ऐतिहासिक धारा ऐतिहासिक नाटकों में दाहर, काल्पी, बुन्देलकेसरी, वीरांगना, पन्ना, अशोक, रेवा, राजमुकुट, अंतःपुर, का छिद्र, भग्नावशेष, सरजा शिवाजी, कुणाल, श्री वत्स, जयपराजय, रक्षा बन्धन, शिवासाधना, प्रतिशोध, स्वप्नभंग, आहुति, मन्दिर, नीमा,

प्रगतिवादी संदेश आपने अपने साहित्य में फूंका और भारतीय समाज को उत्थान की प्रेरणा दी। नाटक की टेकनीक में विदेशी गुणों को भी सहानुभूति के साथ अपनाया और अपनी प्राचीनता की आत्मा को भी ठेस नहीं लगने दी, परन्तु रूढ़ियों का जहां तक हो सका है आपने खण्डन ही किया है। सन् १९३२ में नमक-आन्दोलन को गांधी इर्विन समझौते के बाद गांधी जी नें वापिस ले लिया और देश में एक आंशिक विजय की भावना का आशावादी वातावरण फैल गया। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। विदेशों में साहित्य अनेकों प्रकार से प्रगति कर रहा था। वैज्ञानिक आविष्कारों का भी साहित्य पर प्रभाव पड़ा और रेडियो का आविष्कार हुआ। मनोवैज्ञानिकों नें साहित्य को रसवाद की ओर से चिन्ता दिशा की ओर घुमा दिया। हृदय पर मस्तिष्क ने प्रधानता पाई। फ्राइड ने ऐसे सिद्धान्त सामने रखे कि विदेशी साहित्य के विद्यार्थियों पर उनका बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। बर्नाड शा और एच जी वेल्स ने संसार के सामने साहित्य के नवीनतम दृष्टिकोण उपस्थित किए। आस्करवाइल और गाल्सवर्दी की ओर भी पाठकों का कम सम्मान नहीं हुआ। प्रत्येक वस्तु के गुण और अवगुणों का मूल्यांकन बुद्धिवाद की कसौटी पर कस कर उपयोगिता के आधार पर किया जाने लगा। संसार मानव जीवन की समस्याएँ संसार की प्रधान समस्याएँ बनकर राजनीति, समाज और साहित्य की समस्याएँ बनीं और उन्हीं के स्पष्टीकरण का नाम साहित्य समझा गया। स्त्री और पुरुष के तत्वों और उनकी समस्याओं का विवेचन साहित्य का विशेष अंग बन गया। भावुकता के स्थान जहाँ पर तर्क और ज्ञान लेने जा रहे थे वहाँ कथावस्तु का स्थान समस्या ने लेना प्रारम्भ कर दिया। केवल समस्या के आधार पर पात्रों का निर्माण होने लगा और परिस्थितियों के आधार पर कथावस्तु स्वयं निर्मित होने लगी। इसी समय इब्सन ने अपने नाटकों में वर्तमान

युग की प्रजातन्त्रवादी प्रेरणाओं को लेकर मानववादी विचारधारा का प्रतिपादन किया। इस विचारधारा से भारत का साहित्य भी प्रभावित हुए बिना न रहा और विशेष रूप से एक प्रगतिवादी लहर भारत में दौड़ गई। इस प्रगतिवादी धारा का संक्षिप्त विवेचन हम पीछे कविता साहित्य में कर चुके हैं। नाटकीय साहित्य की प्रगति में भी यही विचार-धारा मुखरित हो रही थी। 'प्रसाद'-युग तक भारत में राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता थी। भारतीय इतिहास और आख्यानों के गौरव से आधुनिक जनता में राष्ट्रीय भावना अनुप्राणित की जा रही थी। प्रसाद के पश्चात् मानववाद ने जोर पकड़ा और मानव के साथ मानव-समूह अर्थात् समाज का प्रधान स्थान बना और 'जन' की भावना के साथ साथ जन-हित राष्ट्र, समाज, और साहित्य का प्राण बना।

इस काल में आकर राम और कृष्ण धाराओं में कर्तव्य (पूर्वार्ध), सीताराम, श्रीराम, कर्तव्य, (उत्तरार्ध), राधा और सुदामा, नाटक लिखे गए। इन नाटकों के लेखक सेठ गोविन्ददास, चतुरसेन शास्त्री, उदयशंकर भट्ट और किशोरीदास वाजपेई हैं। इन सब नाटकों में केवल 'कर्तव्य' नाटक उल्लेखनीय है। पौराणिक आख्यानों को लेकर अम्बा, सगर विजय, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, मेघनाद, गंगा का बेटा, नल दमयन्ती, इत्यादि नाटक उदयशंकर भट्ट, चतुरसेन शास्त्री, बेचनशर्मा उग्र और डा० लक्ष्मण स्वरूप ने लिखे।

पौराणिक धारा

ऐतिहासिक नाटकों में दाहर, काल्पी, बुन्देलकेसरी, वीरांगना, पन्ना, अशोक, रेवा, राजमुकुट, अंतःपुर, का छिद्र, भग्नावशेष, सरजा शिवाजी, कुणाल, श्री वत्स, जयपराजय, रक्षा बन्धन, शिवासाधना, प्रतिशोध, स्वप्नभंग, आहुति, मन्दिर, नीमाड़

ऐतिहासिक धारा

केसरी, रानी भवानी, मुक्तियज्ञ, अशोक, संयोगिता, मीरा, साधनापथ, कुलीनता, एवं शशिगुप्त, पुरु, और एलेक्जेंडर इत्यादि नाटक इस काल में लिखे गए। उदयशंकर भट्ट, भगवती प्रसाद पंथारी श्याम कांत पाठक, धनीराम, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोविंद वल्लभ पंत, गोपालचन्द्र देव, कैलाशनाथ भटनागर, उपेन्द्र नाथ अश्क, हरिकृष्ण प्रेमी, शिवदत्त रमानी, परिपूर्णानन्द, सत्येन्द्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र, माया दत्त सेठ गोविंददास इत्यादि इन नाटकों के प्रसिद्ध नाटककार हैं।

इस काल के प्रेम प्रधान नाटक प्रवासी और ज्योत्सना हैं। यह कमला कांत वर्मा और सुमित्रानन्दन पंत द्वारा लिखे गए हैं।

राष्ट्रीयता और सामाजिक समस्या पिछले विकास-काल में एकता की ओर अग्रसर थीं। इस काल में आकर वह बिलकुल एक हो गईं। इस धारा के प्रधान नाटक नवयुग, राजयोग, सिंदूर की होली, आधी रात, डिक्टेटर, चुंबन, आवारा, अंगूर की बेटी, छलना, खेतिहर देश, धीरे धीरे, विकास, सेवापथ, प्रकाश, स्वर्ग की झलक, दुविधा, अपराधी, विवाह मंडप, छाया, बंधन इत्यादि हैं और प्रेम सहायसिंह, लक्ष्मी नारायण मिश्र, बेचन शर्मा उग्र, गोविंद वल्लभ पंत, भगवती प्रसाद वाजपेई, सूर्यनारायण शुक्ल, वृन्दावनलाल, हरीकृष्ण प्रेमी इत्यादि इनके प्रधान लेखक हैं। इन सब धाराओं पर प्रकाश डालकर अंत में हम यहां पर यह उल्लेख कर देना उचित समझते हैं कि जिस प्रकार प्रसाद जी ने बौद्ध-काल का चित्रण अपने नाटकों में विशेष रूप से लिया है इसी प्रकार इस काल के नाटकारों में उदय शंकर भट्ट जी ने प्रधानतया प्राग्-ऐतिहासिक काल को अन्न नाटकों का विषय बनाया है। दाहर दुखांत नाटक से आपने ख्याति प्राप्त की। अम्बा भी आपका वियोगांत नाटक है। आप नाटकों में बाहिर् और आन्तरिक चित्रण समान रूप से सुन्दर रहता है और अंतर्द्वन्द्व 'स्वगत' में प्रकट

किया जाता है। विचारों का उतार चढ़ाव स्वाभाविक है। हरिकृष्ण प्रेमी जी ने ऐतिहासिक नाटकों में ख्याति प्राप्त की है। आपने मुगल कालीन कथावस्तु को लेकर चार नाटक लिखे हैं। रक्षाबन्धन आपका सबसे ख्याति प्राप्त नाटक है। आपने अपने इन नाटकों में हिन्दू मुस्लिम एकता की विचार धारा का आश्रय लिया है। आपका वस्तुविन्यास और चरित्र चित्रण बहुत सुन्दर रहता है। मुसलमानी पात्रों की भाषा में कुछ उर्दूपन रहता है। आपके विचारों में राष्ट्रीयता का पूर्ण आभास मिलता है और प्राचीन में नवीन संदेश फूंकने का आपने सफल प्रयत्न किया है। आप अब ऐतिहासिकता से समाज की ओर मुड़ चुके हैं। समस्या मूलक नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नारी की समस्या पर आपने मुक्त हृदय और मुक्त-मस्तिष्क से लिखा है। नारी की शिक्षा, प्राचीन रुढियां, नारी का चरित्र, शारीरिक पवित्रता इत्यादि पर आपने प्रकाश डाला है। सेवा, आत्म समर्पण और प्रेम का आपने सामंजस्य स्थापित किया है। मिश्र जी का मानव मनुष्यता और आत्म संतोष की ओर धार्मिक संस्कारों और आत्मग्लानि से प्रेरित होकर नहीं चलता बल्कि बुद्धिवाद का आश्रय लेकर चलता है। वह रूढ़िवाद का कट्टर शत्रु है। नाटकों में आपने ही सर्वप्रथम नारी-समस्याओं को प्रधानता दी है। सेठ गोविंददास ने अपने नाटकों मे राजनीतिक समस्याओं को प्रधानता दी है। देश प्रेम और देश सेवा का उनमें प्राधान्य है। आपके नाटकों में गांधीवादी विचार धारा का प्रतिपादन है। आपके सम्वाद सुन्दर हैं और चरित्र चित्रण बहुत क्रमिक है। इस प्रकार हिन्दी नाटक साहित्य प्रत्येक दिशा में प्रगति कर रहा है।

रङ्गमंच और सिनेमा

खेद का विषय है कि हिन्दी नाटक साहित्य के पास अपना रंगमंच नहीं। इसका प्रधान कारण यही है कि हिन्दी के नाटककारों ने नाटक को श्रव्यकाव्य का ही रूप दिया और अभिनय तथा रंगमंच के प्रति उदासीन बने रहे। आधुनिक नाटककारों ने अभिनय और रंगमंच की ओर अपना ध्यान अवश्य लगाया है।

संस्कृत काव्य का रंगमंच

संस्कृत में नाटक अभिनय के लिए लिखे गए और यही कारण है कि उस काल में रंगमंच का विकास भी हुआ और नाट्य शास्त्र के आचार्यों ने नाटक-अभिनय की विविध मीमाँसाएँ भी प्रस्तुत कीं। भरतमुनि ने १. चतुरस्र (बराबर लम्बाई चौड़ाई वाले) २. विकृष्ट (जिसकी चौड़ाई से लम्बाई दुगनी हो।) ३. त्र्यस्र (जिसका आकार त्रिकोण के समान हो।)

नाट्यशाला—नाट्यशाला के दो भाग होते हैं एक वह जहां नाटक अभिनीत होते हैं अर्थात रंगमंच और दूसरा वह भाग जहां दर्शक लोग बैठते हैं। जहां नाटक अभिनीत होता है उसके सबसे पिछले भाग को नेपथ्य-ग्रह कहते हैं। नेपथ्य ग्रह में नट लोग नाट्य के लिए अपना वेश बदलते हैं और अभिनय के लिए तैय्यार होते हैं। नेपथ्य-ग्रह के सामने वाला भाग रंगशीर्ष और रंगपीठ कहलाता है। इन दोनों के बीच में जवनिका लटकी रहती है। वास्तविक अभिनय मंच के रंगशीर्ष भाग में ही

होता है। दर्शकों के लिए जो भाग बना होता है वह उतार चढ़ाव के साथ सीढ़ी के समान बना होता है। वर्ण वर्ण के व्यक्तियों के बैठने के इसमें पृथक् पृथक् स्थान हैं। वह विभाजन जो आदिकाल में वर्णों के विचार से बनाए गए थे आज केवल पैसों के रूप में वर्तमान रह गया है और रंगशाला वालों ने उसका विभाजन प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी में करके टिकटों के दरों में अन्तर कर दिया है। आज छोटे वर्ण का व्यक्ति भी प्रथम श्रेणी के पैसे देकर प्रथम श्रेणी का टिकट खरीद सकता है।

अभिनय—आरम्भ में जो नाटक केवल अभिनय के प्रधान लक्ष्य को सामने रखकर लिखे जाते रहे वह कालान्तर में कथानक और शैली मात्र से नाटक रह गए और उनके अन्दर व्यर्थ का पाण्डित्य प्रदर्शन आने के कारण उनकी अभिनय-शक्ति का ह्रास हो गया। नाटक के प्रधान लक्ष्य अभिनय को गौणस्थान दिया जाने पर रंगमंच की आवश्यकता और प्रभाव के मूल्यांकन में भी लेखकों ने उदासीनता दिखलाई। इस काल में दो प्रकार के नाटक लिखे जाने लगे, एक अभिनय योग्य नाटक और दूसरे पठनपाठन के योग्य। इस दूसरे वर्ग में भी कुछ प्रतिनिधि ग्रंथ सामने आए जो अभिनेयत्व रहित होने पर उन्हें प्रथम श्रेणी के ही नाटकों में स्थान मिला। इस प्रकार के नाटकत्व कक्ष (Closet-Drama) कहलाए। अंगरेजी में भी इस प्रकार के नाटक लिखे गए और उनका समुचित सम्मान भी हुआ। काव्य को स्वांतः सुखाय माने वाली प्रणाली के लेखकों ने इस धारा को अपनाया और रंगमंच के महत्व को हीनता प्रदान की। इसके विपक्षी विचारक नाटक का साहित्य का दूसरी विधाओं से प्राथक्य केवल उसकी अनुकरण शक्ति के कारण मानते हैं। नाटक की रचना भी उनके मत से दर्शक और अभिनय की सुविधा के अनुकूल होनी अनिवार्य है। यह दूसरी शैली कालांतर में हलकी

होता है। दर्शकों के लिए जो भाग बना होता है वह उतार चढ़ाव के साथ सीढ़ी के समान बना होता है। वर्ण वर्ण के व्यक्तियों के बैठने के इसमें पृथक् पृथक् स्थान हैं। वह विभाजन जो आदिकाल में वर्णों के विचार से बनाए गए थे आज केवल पैसों के रूप में वर्तमान रह गया है और रंगशाला वालों ने उसका विभाजन प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी में करके टिकटों के दरों में अन्तर कर दिया है। आज छोटे वर्ण का व्यक्ति भी प्रथम श्रेणी के पैसे देकर प्रथम श्रेणी का टिकट खरीद सकता है।

अभिनय—प्रारम्भ में जो नाटक केवल अभिनय के प्रधान लक्ष्य को सामने रखकर लिखे जाते रहे वह कालान्तर में कथानक और शैली मात्र से नाटक रह गए और उनके अन्दर व्यर्थ का पांडित्य प्रदर्शन आने के कारण उनकी अभिनय-शक्ति का ह्रास हो गया। नाटक के प्रधान लक्ष्य अभिनय को गौणस्थान दिया जाने पर रंगमंच की आवश्यकता और प्रभाव के मूल्यांकन में भी लेखकों ने उदासीनता दिखलाई। इस काल में दो प्रकार के नाटक लिखे जाने लगे, एक अभिनय योग्य नाटक और दूसरे पठनपाठन के योग्य। इस दूसरे वर्ग में भी कुछ प्रतिनिधि ग्रंथ सामने आए जो अभिनेयत्व रहित होने पर उन्हें प्रथम श्रेणी के ही नाटकों में स्थान मिला। इस प्रकार के नाटकत्व-कक्ष (Closet-Drama) कहलाए। अंगरेजी में भी इस प्रकार के नाटक लिखे गए और उनका समुचित सम्मान भी हुआ। काव्य को स्वांतः सुखाय माने वाली प्रणाली के लेखकों ने इस धारा को अपनाया और रंगमंच के महत्व को हीनता प्रदान की। इसके विपक्षी विचारक नाटक का साहित्य का दूसरी विधाओं से प्राथक्य केवल उसकी अनुकरण शक्ति के कारण मानते हैं। नाटक की रचना भी उनके मत से दर्शक और अभिनय की सुविधा के अनुकूल होनी अनिवार्य है। यह दूसरी शैली कालांतर में हलकी

रङ्गमंच और सिनेमा

खेद का विषय है कि हिन्दी नाटक साहित्य के पास अपना रंगमंच नहीं। इसका प्रधान कारण यही है कि हिन्दी के नाटककारों ने नाटक को श्रव्यकाव्य का ही रूप दिया और अभिनय तथा रंगमंच के प्रति उदासीन बने रहे। आधुनिक नाटककारों ने अभिनय और रंगमंच की ओर अपना ध्यान अवश्य लगाया है।

संस्कृत काव्य का रंगमंच

संस्कृत में नाटक अभिनय के लिए लिखे गए और यही कारण है कि उस काल में रंगमंच का विकास भी हुआ और नाट्य शास्त्र के आचार्यों ने नाटक-अभिनय की विविध मीमाँसाएँ भी प्रस्तुत कीं। भरतमुनि ने १. चतुरस्र (बराबर लम्बाई चौड़ाई वाले) २. विकृष्ट (जिसकी चौड़ाई से लम्बाई दुगनी हो।) ३. त्र्यस्र (जिसका आकार त्रिकोण के समान हो।)

नाट्यशाला—नाट्यशाला के दो भाग होते हैं एक वह जहां नाटक अभिनीत होते हैं अर्थात रंगमंच और दूसरा वह भाग जहां दर्शक लोग बैठते हैं। जहां नाटक अभिनीत होता है उसके सबसे पिछले भाग को नेपथ्य-ग्रह कहते हैं। नेपथ्य ग्रह में नट लोग नाट्य के लिए अपना वेश बदलते हैं और अभिनय के लिए तैय्यार होते हैं। नेपथ्य-ग्रह के सामने वाला भाग रंगशीर्ष और रंगपीठ कहलाता है। इन दोनों के बीच में यवनिका लटकी रहती है। वास्तविक अभिनय मंच के रंगशीर्ष भाग में ही

होता है। दर्शकों के लिए जो भाग बना होता है वह उतार चढ़ाव के साथ सीढ़ी के समान बना होता है। वर्ण वर्ण के व्यक्तियों के बैठने के इसमें पृथक् पृथक् स्थान हैं। वह विभाजन जो आदिकाल में वर्णों के विचार से बनाए गए थे आज केवल पैसों के रूप में वर्तमान रह गया है और रंगशाला वालों ने उसका विभाजन प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी में करके टिकटों के दरों में अन्तर कर दिया है। आज छोटे वर्ण का व्यक्ति भी प्रथम श्रेणी के पैसे देकर प्रथम श्रेणी का टिकट खरीद सकता है।

अभिनय—प्रारम्भ में जो नाटक केवल अभिनय के प्रधान लक्ष्य को सामने रखकर लिखे जाते रहे वह कालान्तर में कथानक और शैली मात्र से नाटक रह गए और उनके अन्दर व्यर्थ का पांडित्य प्रदर्शन आने के कारण उनकी अभिनय-शक्ति का ह्रास हो गया। नाटक के प्रधान लक्ष्य अभिनय को गौणस्थान दिया जाने पर रंगमंच की आवश्यकता और प्रभाव के मूल्यांकन में भी लेखकों ने उदासीनता दिखलाई। इस काल में दो प्रकार के नाटक लिखे जाने लगे, एक अभिनय योग्य नाटक और दूसरे पठनपाठन के योग्य। इस दूसरे वर्ग में भी कुछ प्रतिनिधि ग्रंथ सामने आए जो अभिनेयत्व रहित होने पर उन्हें प्रथम श्रेणी के ही नाटकों में स्थान मिला। इस प्रकार के नाटकत्व कक्ष (Closet-Drama) कहलाए। अंगरेजी में भी इस प्रकार के नाटक लिखे गए और उनका समुचित सम्मान भी हुआ। काव्य को स्वांतः सुखाय माने वाली प्रणाली के लेखकों ने इस धारा को अपनाया और रंगमंच के महत्व को हीनता प्रदान की। इसके विपक्षी विचारक नाटक का साहित्य का दूसरी विद्याओं से प्राथक्य केवल उसकी अनुकरण शक्ति के कारण मानते हैं। नाटक की रचना भी उनके मत से दर्शक और अभिनय की सुविधा के अनुकूल होनी अनिवार्य है। यह दूसरी शैली कालांतर में हलकी

हुआ और यही कारण है कि हिन्दी रंगमंच का बाह्य रूप बराबर पश्चिमी साँचे में ढलता चला गया। सर्वप्रथम कलकत्ते में अँग्रेज़ी रंगमंच बने और उन पर अँग्रेज़ी नाटक खेले गए। उनका अनुकरण रूपांतरों के रूप में फिर बँगला में प्रस्तुत किया गया। प्रारम्भ में यह नाटक गृह व्यवसायी रूप से ही खेले थे और इनके द्वारा बंगला नाटक-साहित्य को बहुत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

हिन्दी रंगमंच पर विचार करने से पूर्व हम पहले क़ैसरबाग के रंगमंच का उल्लेख कर चुके हैं। इसके पश्चात् बनारस में जानकी मंगल नाटक खेला गया और फिर बम्बई में रंगमंच बनाया गया। बम्बई में जो रंगमंच बना वह पारसी कम्पनियों द्वारा प्रस्तुत किया गया था। पारसी कम्पनियों के प्रभाव के विषय में पिछले अध्याय में भी हम संकेत कर चुके हैं। अब हम प्रधान व्यवसायिक और अव्यवसायिक नाटक कम्पनियों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

व्यवसायी नाटक कम्पनियाँ—(पारसी नाटक कम्पनियाँ) जनता की प्रवृत्ति पश्चिमी चमत्कार-प्रधान संस्कृति की ओर बढ़ती हुई देखकर धनवान पारसी व्यक्तियों की धनोपार्जन अभिरुचि हिन्दी में रंगमंच प्रस्तुत करने की ओर आकृष्ट हुई। इसी उद्देश्य से सर्वप्रथम उन्होंने Original Theatrical Company (···) की स्थापना की। इस कम्पनी के नाटक-लेखकों में मोहम्मद मियाँ 'रौनक' और हुसैन मियाँ 'ज़रीफ़' उल्लेखनीय हैं। 'ज़रीफ़' साहेब ने लगभग ३० नाटक लिखे। मिस्टर पोस्टन इस कंपनी के प्रधान कार्यकर्त्ता थे और उन्हीं की मृत्यु के पश्चात् यह कंपनी समाप्त हो गई।

सन् १८७७ में Victoria Theatrical Company··· की स्थापना दिल्ली में हुई। इस कम्पनी से गोपीचन्द, हरिश्चन्द्र, रामायण और कनकतारा इत्यादि नाटक खेले। यह कम्पनी अपने नाटक खेल

विलायत भी गई, परन्तु कोई विशेष प्रोत्साहन न मिला। खुरशेद जी ने इस कम्पनी का श्रीगणेश किया था और उन्हीं की मृत्यु के पश्चात् यह कम्पनी भी समाप्त हो गई। इसी समय Alfred Theatrical Company की स्थापना हुई। मास्टर मोहन और मिस जोहरा इसके प्रधान अभिनेता और अभिनेत्री थे। पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' इस कम्पनी के प्रधान नाटककार थे। चन्द्रावली, बकावली, चलतापुर्जा, महाभारत, रामायण, गोरखधंधा, पत्नी प्रताप, कृष्ण सुदामा इत्यादि इस कम्पनी के प्रधान नाटक हैं। इसी समय New Alfred Theatrical Company की स्थापना हुई। 'हशर' काश्मीरी और पं० राधेश्याम कथावाचक इस कम्पनी के प्रधान नाटककार थे। सूरदास, गंगा अवतरण, वनदेवी, सीता वनवास, मधुर मुरली, श्रवणकुमार, आंख का नशा इत्यादि इस कम्पनी के प्रधान खेल थे। राधेश्याम जी का वीर अभिमन्यु नाटक इस कम्पनी का खूब चला।

इसके पश्चात् तो मानो कम्पनियों की बाढ़ ही आ गई। 'हशर' ने New Alfred को छोड़ कर Shakespeare Theatrical Company की स्थापना की। लाहौर में Old Parsi Theatri. cal Company की स्थापना हुई। देहली में Jubilee Theatri. cal Company खुली और Alexandria Company-Imperial Theatrical Company तथा Light of India Theatrical Company की स्थापना भी इसी काल में हुई। यह सभी कम्पनियाँ हम ऊपर कह आए हैं कि केवल व्यवसायिक दृष्टिकोण को लेकर चली थीं और इसीलिए इनका ध्यान समाज-सुधार अथवा राष्ट्र-संगठन की ओर नहीं जा सकता था। रंगमंच पर ऐसी चीजें आई हैं कि जिनका समाज पर बुरा प्रभाव पड़ा और इस प्रकार के प्रभाव की रोकथाम सरकार ने अपने सन् १८१६ के Th

Dramatic Performances Act के अनुसार की। इन कम्पनियों में केवल Alexandria Theatrical Company ने एक राष्ट्रीय नाटक 'वतन' नाम से खेला। इस दिशा में इस कम्पनी का यह प्रथम प्रयास था जिसका भारतीय जनता ने मुक्त-कंठ से स्वागत किया।

व्यवसायी नाटक कम्पनियाँ (२)—(अन्य व्यवसायी नाटक कम्पनियां)—पारसी कम्पनियां का दृष्टिकोण, हम पहले कह चुके हैं, धनोपार्जन के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। इन कम्पनियों के मालिकों का न तो भारतीय साहित्य से ही कुछ सम्बन्ध था और न भारतीय संस्कृति से ही। भारतीय आख्यानों पर आधारित जो खेल इन कम्पनियों ने अपनाए वह केवल इसलिए कि जनता में उन आख्यानों के प्रति अभिरुचि थी और उन्हें खेलने पर उन्हें धनोपार्जन की आशा थी। खेद का विषय है कि न तो इन कम्पनी वालों ने ही कभी हिन्दी के साहित्यिकों के सम्पर्क में आने का प्रयत्न किया और न हिन्दी के साहित्यिक ही उस ओर आकर्षित हुए। इसका प्रधान कारण यही था कि रंगमंचीय कलाकारों में भारतीय सभ्यता का वह विकास नहीं था कि जिसके साथ हिन्दी के साहित्यिक अपना मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक सामंजस्य स्थापित कर पाते। साहित्य ने उस वातावरण में जाना अपनी गिरावट समझा और पैसे वाले कम्पनी के मालिकों ने अपना काम चलाने के लिए जो चाटुकार साहित्यिक मिल गए अथवा जो अपने को उस वातावरण के अनुकूल बना सके उन्हें ही लेकर अपने कार्य की संतुष्टि कर ली। फल यह हुआ कि न तो रंगमंच पर अच्छे नाटक ही आ सके और न साहित्य तथा जनता के बीच में सामंजस्य ही स्थापित हो सका। जनता और साहित्य के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाले रंगमंच का सबसे बड़ा माध्यम हिन्दी साहित्य के हाथों में न रहा और फलस्वरूप दोनों को हानि हुई।

पारसी दृष्टिकोण से पृथक् भारतीय दृष्टिकोण [illegible] कम्पनियां [illegible] विशेष उल्लेखनीय हैं, एक मेरठ की व्याकुल भारत कम्पनी और दूसरी काठियावाड़ की सूर्यविजय कम्पनी। यद्यपि [illegible] न इनमें से बिल्कुल नष्ट नहीं हो गया था, परन्तु फिर भी यह भारतीयता की ओर अधिक अग्रसर थीं। समाज के सम्मुख [illegible] और भद्दे नाटक प्रस्तुत करके केवल मनोरंजन करना मात्र ही इनका लक्ष्य नहीं था। सूर्यविजय कम्पनी ने पं० राधेश्याम कथावाचक का उषा अनिरुद्ध और व्याकुल भारत कम्पनी ने 'व्याकुल' जी का [illegible] नाटक बड़े समारोह के साथ खेला और उनकी भारत भर में धूम मच गई। 'व्याकुल' जी स्वयं उच्चकोटि के संगीतज्ञ और लेखक थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् ही व्याकुल भारत कम्पनी भी समाप्त हो गई।

इन व्यवसायिक नाटक कम्पनियों के मालिकों में धनोपार्जन की प्रधान प्रवृत्ति के साथ ही साथ नाटकप्रियता भी पाई जाती थी। यह मालिक अपनी रुचि के नाटक लिखते थे और अपनी रुचि के अनुसार ही उनका निर्देशन भी करते थे। इन कम्पनियों के नाटकों में चमत्कार को प्रधानता दी जाती थी और नाटकों की आत्मा की अपेक्षा उनके बाह्य रूप की ओर मालिकों का विशेष ध्यान रहता था। अच्छी पोशाक, अच्छे पर्दे, अच्छा मंच, अच्छे साज़ और फरनीचर की ओर वह विशेष रूप से अभिरुचि दिखलाते थे। दर्शकों के सम्मुख आश्चर्यजनक दृश्य रखकर वह नाटकों को मनोग्राही बनाने का प्रयत्न करते थे। इस काल तक की नाटक कम्पनियों और विशेष रूप से व्यवसाई कम्पनियों के मालिकों ने समाज और व्यक्ति की समस्याओं को छूने वाले नाटकों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। नए सीन-सीनरी देखकर जब दर्शक बाहर निकलते थे तो वाह-वाह तो अवश्य करते थे, परन्तु वह वाह-वाह उन नाटकों की न होकर उस तड़क-भड़क और चमत्कार की होती थी। इसलिए वह नाटक और यह रंगमंच समा

से और समाज के दैनिक जीवन से बहुत दूर थे। अंग्रेजी पोशाकों में सजाकर नर्तकियों को रंगमंच पर इसलिए लाया जाता था कि उनके अर्धनंगे अंग दर्शकों को अधिक से अधिक संख्या में टिकट खरीदने की ओर लालायित कर सकें। नाटकों के विषय अधिकतर आख्यानों पर ही आधारित थे और उनमें गीतों की प्रचुरता रहती थी। इन गीतों में तुकबन्दियों की मात्रा अधिक रहती थी और कहीं कहीं पर तो खाने और पीने के संवाद भी कविता में कहलाए जाते थे। उर्दू लेखकों की ग़ज़लों का प्रचार इन नाटकों में विशेष रूप से मिलता है।

हास्य का स्थान

इन नाटक कम्पनियों ने जिन नाटकों को खेला उनमें नाटक और प्रहसन साथ साथ चलते थे। एक विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि वर्तमान नाटकों में हास्य का प्रसंग मूल नाटक के कथावस्तु से पृथक् अपना अस्तित्व नहीं रखता परन्तु इन कम्पनियों के नाटकों में मूल नाटक और प्रहसन दोनों पृथक् रूप से चलते थे और उन हास्य प्रधान प्रहसनों का मूल नाटकों से कम सम्बन्ध रहता था। इन कामिकों (प्रहसनों) में कला के विचार से कोई विशेष सौंदर्य न होकर केवल हाव भाव और ज़बान की लपा लपी मात्र ही रहती थी। मूल नाटक और प्रहसन में सम्बन्ध स्थापित करने का श्रेय सर्वप्रथम इन रंग मंचों पर पं० राधेश्याम और आगा 'हश्र' को पहुँचता है।

अव्यवसायी रंगमंच—अव्यवसायी रूप से नाटक रंगमंच पर दो प्रकार से आए। एक तो विद्यालयों द्वारा और दूसरे कुछ सभा अथवा सोसायटियों द्वारा मनोरंजनार्थ किसी उत्सव विशेष पर अथवा किसी सुकार्य के लिए सहायतार्थ यह अव्यवसायी नाटक खेले गए। हिन्दी साहित्यिकों ने इन दोनों प्रकार के प्रयत्नों में भी कोई विशेष हाथ नहीं बँटाया। इस प्रकार के नाटकों में सर्वप्रथम उल्लेख भारतेन्दुजी का मिलता है। जो

वार्षिकोत्सवों पर विशेष रूप से नाटकों के आयोजन किए जाते थे। इस दिशा में प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दू बोर्डिंग हाउस का नाम विशेष उल्लेखनीय है जहां पर यह प्रथा अभी तक चली आ रही है और सन् १६४८ में मैंने भी वहां पर वीर अभिमन्यु नाटक अभिनीत किया था। विद्यालयों के अतिरिक्त लाहौर, दिल्ली, मेरठ, लखनऊ, कानपुर इत्यादि नगरों में ऐसी सोसायटियां बनती जा रही थीं जो विशेष अवसरों पर रंगमंच तैय्यार करके नाटक अभिनीत करती थीं।

पारसी व्यवसायी कम्पनियों से प्राथक्य—यह अव्यवसायी नाटक मंडलियां धनोपार्जन के ध्येय से नहीं बनीं थीं इसीलिए इन्होंने जिन नाटकों को अपनाया उनमें प्राचीन ऐतिहासिकता और आख्यान काव्य के अतिरिक्त समकालीन सामाजिक और राष्ट्रीय भावना का भी समावेश था। इन मंडलियों के प्रवर्तकों ने साहित्यिक नाटकों को भी अपनाया और नाटक खेलते और रंगमंच बनाते समय भारतीयता के दृष्टिकोण को भी सम्मुख रखा। इन्होंने कथावस्तु के साथ ही साथ चरित्रों के चित्रण में भी गाम्भीर्य को स्थान दिया और हास्य में भी अरुचि को स्थान नहीं दिया। इनके नाटकों में जो गीत प्रयुक्त हुए उनमें भी पारसी कम्पनियों की अपेक्षा अधिक साहित्यिकता पाई जाती थी। इन्होंने हिन्दी भाषा को अपने नाटकों में प्रधान स्थान दिया और भले घरों के लड़के और लड़कियों को रंगमंच पर उतारकर यह सिद्ध कर दिया कि रंगमंच केवल वेश्या आदि का ही कार्यक्षेत्र नहीं है। पारसी कम्पनियों ने जो उर्दू का वातावरण देश में प्रसारित किया था इन कम्पनियों ने उस प्रसार के प्रभाव को नष्ट करके अपनी संस्कृति और हिन्दी का प्रचार किया। इन मंडलियों के पास अपने पैसे देकर नौकर रखे हुए लेखक तो होते नहीं थे। इसलिए नाटक चुनने में उनका क्षेत्र बहुत विस्तृत था और साहित्य

वह अच्छे से अच्छे कलाकारों को लेकर चित्र बना सकते हैं। उन्हीं कलाकारों को रखकर यदि नाटक कम्पनी अपना थियेटर चलाना चाहे तो उसके लिए असम्भव हो जाए। परन्तु यह सब कुछ होने पर भी नाटक में कुछ बातें ऐसी हैं कि जिनका आनन्द लाभ सिनेमा में दर्शक ग्रहण नहीं कर सकता। नृत्य-कला का जो सौंदर्य रंग मंच पर प्रदर्शित होता है वह सिनेमा में असम्भव है क्योंकि उसके अन्दर कल-प्रधानता आ जाती है मानव-प्रधानता नहीं। सिनेमा बनने से कलाकार अपने दर्शक से दूर होता चला गया और दर्शक तथा कलाकार के बीच का जो व्यापक सम्बन्ध था वह नष्ट हो गया। सिनेमों के अनेकों गुण एक ओर और अभिनय कर्ताओं तथा दर्शकों का सम्बन्ध विच्छेद हो जाना दूसरी ओर। फिर भी सिनेमा से अभिनेताओं को विशेष लाभ हुआ है और भारतीय नृत्य तथा संगीत कला की वृद्धि हुई है परन्तु खेद का विषय है कि अभी तक भारतीय सरकार ने इसके उत्थान की ओर कोई सक्रिय ध्यान नहीं दिया। सिनेमा आज जाति का स्तर ऊंचा उठाने और देश के बालकों को देश का सच्चा और योग्य नागरिक बनाने के सबसे उत्तम माध्यम है। रूस के सिनेमा ने जाति के उत्थान में बहुत सहयोग दिया है।

गल्प के प्रधान रूप

काव्य अथवा साहित्य को आचार्यों ने दृश्य और श्रव्यकाव्य दो भागों में विभाजित किया है। दृश्य-काव्य के अंतर्गत नाटक और श्रव्य काव्य के अन्तर्गत गद्य और पद्य का उपन्यास, कहानी, जीवनी, और कविता साहित्य आता है। इस अध्याय में हम श्रव्य काव्य के गल्प रूप पर ही विचार करेंगे। गल्प साहित्य में उपन्यास और कहानी ही लिए जा सकते हैं।

उपन्यास

जीवन और जगत की अभिव्यक्ति का माध्यम उपन्यास है। कथा कहानी परम्परागत आदि युग से कही और सुनी जाती हुई चली आ रही है। आधुनिक उपन्यास और कहानी साहित्य उस परम्परा का सांस्कृतिक और निखरा हुआ स्वरूप है। उपन्यास साहित्य का विकास गद्य के विकास के साथ साथ हुआ और आज यह साहित्य का प्रधान अंग बन चुका। आज विश्व के साहित्य में सब से अधिक माँग उपन्यास साहित्य की है। उपन्यास-साहित्य की यह सर्व प्रियता का प्रधान कारण उसकी मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अभिव्यंजना का संवेदनापूर्ण स्वरूप है।

कविता और उपन्यास—भाषा भेद के अतिरिक्त कविता में पाठक को रोकने, एक पंक्ति को बार-बार दुहराने की शक्ति है और उपन्यास है बहा ले जाने की। उपन्यास में पाठक की मन की आगे बढ़कर दूसरी घटना या परिस्थिति को जान लेने की जिज्ञासा बराबर बनी रहती है।

इसके ठीक विपरीत कविता पाठक के सम्मुख एक भावनापूर्ण ऐसे विचार की सृष्टि करती है कि जिसमें उलझकर पाठक बार-बार उसे दुहराकर रसास्वादन करता है। उपन्यास में आकर्षण की प्रधानता रहती है और प्रगति की रूपरेखा। उपन्यासों में भी कहीं-कहीं दुहराकर पढ़ने वाले स्थान आजाते हैं परन्तु उपन्यास में रमण-वृत्ति की अपेक्षा कुतूहल वृत्ति की ही प्रधानता रहती है।

उपन्यास और महाकाव्य—उपन्यास गद्य का महाकाव्य है यदि यह कह दिया जाए तो अनुचित न होगा। उपन्यास और महाकाव्य दोनों कुछ व्यक्तियों को लेकर कुछ घटनाओं के अन्दर वर्णन प्रधानता के साथ प्रविष्ठ होते हैं। दोनों विषय प्रधान रचना हैं। जीवन के विविध पहलुओं पर दोनों प्रकार की रचनाओं में विविध व्याख्या रहती है। दोनों कथा प्रधानता के साथ सम्बन्ध निर्वाह की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

उपन्यास के तत्व

उपन्यास के विषय में संक्षिप्त ज्ञान करने के पश्चात् उसके तत्वों का निरूपण किया जाएगा। मानव के जीवन में गति है और क्रियाओं का संचालन, इसी का नाम जीवन है। मानव जीवन घटनाओं, क्रियाओं और व्यापारों में बहता हुआ सौंदर्य अथवा सुख की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है, संघर्ष करता है और उपन्यास को मैं मानव के इसी संघर्ष की कलात्मक कहानी मानता हूँ। यही कलात्मक कहानी उपन्यास की 'कथावस्तु' अथवा उपन्यास रचना का प्रथम तत्व है। उपन्यास की सृष्टि का 'पात्र' दूसरा तत्व है जो कथा वस्तु में आनेवाली घटनाओं का विधाता है। 'पात्र' कमजोर होने पर यह घटनाएँ कभी-कभी पात्र की विधाता भी बन बैठती हैं। उपन्यास के पात्रों की पारस्प-

रिक बात-चीत को 'कथनोंपकथन' तत्व कहा जाता है। जीवन उपन्यास में आनेवाली घटनाएँ किसी विशिष्ट समय और किसी विशिष्ट स्थान पर घटती हैं। यही समय और स्थान उपन्यास में 'देश-काल' तत्व के नाम से सम्बोधित किया जाता है। उपन्यास को अभिव्यंजना का ढंग शैली कहलाता है। इस प्रकार उपन्यास की साहित्यिक समीक्षा करने के लिए विद्वानों ने इसे पाँच प्रधान तत्वों में विभाजित किया है। इन पाँच तत्वों के अतिरिक्त छठा तत्व उद्देश्य है जो लेखक की रचना में प्रधान अथवा गौण, व्यक्त अथवा अव्यक्त, रूप से कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में मुखरित हो उठता है। यह लेखक का जीवन-दर्शन भी माना जा सकता है।

कथावस्तु—उपन्यास का विषय उसकी 'वस्तु' है और अपनी कला द्वारा लेखक 'वस्तु' का संगठन और निर्वाह करता है। उपन्यासकार के सम्मुख एक निश्चित योजना रहती है और उसी के आधार वह घटनाओं का किसी विशेष क्रम के साथ संघटन करता है। उपन्यास कार की यह विशिष्ट योजना कथावस्तु कहलाती हैं। इस योजना को कुछ साहित्य समीक्षक कलाकार की हाथों की हथकड़ियाँ मानकर उपेक्षा की दृष्टि से भी देखते हैं और इसे अनावश्यक मान बैठते हैं। उनका मत है कि जब उपन्यास को जीवन की व्याख्या माना गया है और जीवन का संचालन कभी भी पूर्व निश्चित योजना के आधार पर नहीं हो सकता, तो फिर क्यों उपन्यास को इस प्रकार बंधनों में जकड़कर उसकी स्वाभाविकता, उसकी स्वच्छन्दता और सरल प्रवाह को नष्ट किया जाए। पाश्चात्य विद्वान निट्शे ने कहा है, पूर्व निश्चित् बातें यथार्थ नहीं हो सकतीं, "All that is prearranged is false." इस मत के विपरीत विचार पक्षी जीवन की विशृंखलता के कठोर सत्य की अवहेलना न करते हुए भी यह उचित समझते हैं कि लेखक का जीवन के प्रति कुछ

कर्तव्य है और वह कर्तव्य यही है कि वह जीवन की विशृंखल प्रवृत्तियों को बाँधकर क्रमिक रूप से संचाचित होने में सहायक सिद्ध हो। ऐसा करने से यह सच है कि मानव की स्वतन्त्र वृत्तियों के पर कैंच होते हैं, परन्तु साथ ही उसे एक क्रम और संगठन का बल भी प्राप्त होता है। एक नियामक शक्ति मिलती है। लेखक की रचना में किसी निश्चित योजना का होना इस मत के अनुसार अनिवार्य हो जाता है। उपन्यासकार जीवन के घटना चक्रों में से केवल उन घटनाओं का संकलन करता है जो उसकी संवेदना पर सब से गहरी चोट करती है।

उपन्यासकार कथा के महत्त्व को भुलाकर नहीं चल सकता। कथा की रोचकता उपन्यास का निरन्तर आकर्षण बनी रहती है। अपनी दुनियाँ से थककर पाठक दो घड़ी मन बहलाने के लिए उपन्यास पढ़ता है। अब यदि उसे इसमें रोचकता न मिली यो उसके पढ़ने का अभिप्राय ही समाप्त हो गया। यदि उपन्यास की कथा रोचक है तो यह पाठक के ऊबे हुए मस्तिष्क को शांति प्रदान करके अमृत का काम देगी। मनोरंजन की दृष्टि से लेखक को कल्पना शक्ति द्वारा घटना-चक्र का निर्माण तो करना चाहिए परन्तु उसे यह ध्यान रहे कि वह घटनाएँ इतनी कल्पित न हो उठें कि मानव का बुद्धित्व उन्हें मानने से स्पष्ट इन्कार कर दें।

वास्तव में उपन्यास घटित घटनाओं में घटनाओं की अपेक्षा कहीं कहीं उनके निर्वाह की शैली अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। कथावस्तु ने निर्वाह की अनुपम कला पर ही उपन्यास की रंजन शक्ति निर्भर करती है। एक कुशल उपन्यासकार घटनाओं के संगठन पर विशेष ध्यान देता है। एक घटना दूसरी घटना से इस प्रकार सम्बद्ध होनी आवश्यक है कि कहीं पर भी कथा का तारतम्य टूटने न पाए। कथा के सब अँगों में साम्य और समीचीनता होना नितांत आवश्यक है।

- कथावस्तु के विचार से उपन्यासों को असम्बद्ध या शिथिल कथा वस्तु वाले (Loose plot) और संबद्ध या सुगठित कथावस्तु वाले (Organic plot) दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रकार के उपन्यासों में एक घटना का सम्बन्ध दूसरी से नहीं होता और उपन्यास में अनेकों घटनाओं का समावेश रहता है। वर्णनान्वित (Unity of Narration) कार्य कल्पनाओं पर आधारित होकर केवल नायक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती है। उपन्यास के बिखरे हुए तत्वों और घटनाओं को नाटक ही अपने जीवन की माला में पिरोता हुआ आगे बढ़ता है। इन उपन्यासों में एक ही व्यक्ति की भिन्न भिन्न परिस्थितियों और जीवन में आने वाली घटनाओं का ढांचा मात्र होता है। शरत् की श्रीकांत और हिन्दी का प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकांता' इसके ज्वलन्त उदहारण है। दूसरे प्रकार के उपन्यास की कथावस्तु की विशेषता यह है कि उसकी घटनाएँ तारतम्यता के साथ उपसंहार की ओर इस प्रकार अग्रसर होती हुई चलती हैं, कि कहीं पर भी कथा के भिन्न-भिन्न अवयव पृथक्-पृथक् होते दृष्टिगोचर न हों। भेद दोनों प्रकार की कथावस्तु में हैं परन्तु बहुत साधारण सूक्ष्म नहीं।

चरित्र-चित्रण—रागों और मनोवेगों के आधार स्वरूप मानव का चित्रण करना उसका चरित्र-चित्रण कहलाता है। मु० प्रेमचन्द ने लिखा है, "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझता हूँ।" इस संक्षिप्त वाक्य में उपन्यास की समीक्षा सन्निहित है। यदि मु० प्रेमचन्द के शब्दों के आधार पर उपन्यास को मानव के जीवन की व्याख्या माना जाए तो पात्रों का उपन्यास साहित्य में विशेष स्थान बन जाता है। यहाँ उपन्यासकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने उपन्यास में ऐसे पात्रों का निर्माण करे कि जो उसकी मन-कल्पित सृष्टि के कटपुतले मात्र प्रतीत न

होकर वास्तविक जगत में चलते-फिरते, बात करते, जीवन में व्यवहार करते मानव प्रतीत हों। उपन्यासकार के कल्पित पात्रों के जीवन की वास्तविक सृष्टि के मानवीय जीवन से अनुरूपता हो जानी चाहिए। उपन्यास के पात्रों में सांसारिक मानव के जीवन की राग, द्वेष, प्यार, करुणा, क्रोध इत्यादि प्रवृत्तियां जो उपन्यासकार जितने साकार रूप से प्रस्तुत कर देगा वह उतना ही सफल उपन्यासकार है। यदि कल्पना द्वारा लेखक ने अपने पात्रों को किसी अन्य दुनियाँ का पात्र बना दिया तो पाठक उसके पात्रों के साथ सहानुभूति नहीं रख सकते।

किसी भी पात्र का चरित्र-चित्रण करते समय उसके क्रिया कलाप, रीति-नीति, बोल-चाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, बौद्धिक विकास और और व्यापक मनोवृत्ति का सजीव चित्रण करना आवश्यक है। आजकल चरित्र-चित्रण के दो प्रकार हैं, एक विश्लेषणात्मक ढंग (Analytical) और दूसरा नाटकीय अथवा कार्यकारण साक्षेप (Dramatical)। विश्लेषणात्मक ढंग में पात्रों का पूर्ण रूप से विश्लेषण किया जाता है और उनके कार्य व्यवहारों को हर प्रकार की कसौटी पर कसकर परखने का प्रयत्न करते हैं परन्तु दूसरे ढंग को आजकल विशेष रूप से अपनाया जा रहा है। लेखक का कर्तव्य है कि वह अपने पात्र को प्राण प्रदान करे और फिर उपन्यास क्षेत्र में स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करने के लिए छोड़ दे। पात्र को जीवन में अपना विकास करने का अधिकार देकर जीवन के घात प्रतिघात सहने और उत्कर्ष तथा अपकर्ष में आलोडित होने देने के लिए मुक्त कर दे। तभी पात्र अपने जीवन का स्वयं निर्माण करने में फलीभूत होगा। लेखक को चाहिए कि वह दूर बैठकर पात्र की गतिविधि का निरीक्षण करते हुए उसमें प्राणापन का संचार करता रहे। इस धारा का विचारक चाहता है कि लेख का चरित्र-चित्रण पात्रों के कार्यकारण का बनावटी नहीं यथार्थवादी प्रकाशन होना चाहिए।

सुन्दर गुणों के साथ सुन्दर आकृति से सहयोग हो जाए तो सोने में सुहागा उसे कहा जा सकता है।

शैली का सम्बन्ध भाषा तथा भाव दोनों से रहता है। कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक सभी में एक ही प्रकार की भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता। उपन्यास लिखने के लिए एक विशेष प्रकार की प्रभावी भाषा होनी चाहिए कि जिसका प्रभाव पाठक के हृदय को छूता चला जाए। भाषा इतनी क्लिष्ट नहीं होनी चाहिए कि वह पाठक की अबाध गति को रोककर उसे सोचने के लिए बैठा दे। उपन्यास साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा पाठक का मनोरंजन करने में सबसे अधिक सफल हुआ है।

विचार और उद्देश्य—उपन्यास केवल कोरी कहानी कहने के लिए नहीं आता वरन् समाज और व्यक्ति की भावना, विचार तथा समस्याओं का भी कलात्मक निरूपण इसमें होता है। प्रत्येक लेखक अपने दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की व्याख्या करता है और विचारों के विभिन्न पक्षों को संकलित करके उन्हें एक चादर पर सजाता है। ऐसा भी हो सकता है कि कभी कभी लेखक अपने उद्देश्य को प्रकट ही नहीं करता और एक भावना प्रधान कलाकार के नाते काव्य की रचना करता है। लेखक प्रायः नाटक के विचारों से अपना तादात्म्य स्थापित करके अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। नाटक और महाकाव्यों में भी लेखक अपने विचारों को छिपा नहीं सकता। उसके विचार व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में उसकी रचना के अन्दर कहीं न कहीं झाँक उठते हैं। उपन्यास का उद्देश्य निरूपण दो साधनों द्वारा किया जा सकता है एक विश्लेषणात्मक रूप से और दूसरा नाटकीय ढंग से। जहाँ लेखक जीवन की व्याख्या अपने ढंग से करता है वहाँ हम उसे लेखक की विश्लेषणात्मक उद्देश्य निरूपण कहते हैं और जहाँ वह उसकी झाँकी मात्र दिखलाकर पात्रों के पारस्परिक

हिन्दी उपन्यासों के प्रकार

साहित्यालोचन में उपन्यासों के कोटिक्रम पर विचार करते हुए डा० श्यामसुन्दर दास ने उन्हें निम्नलिखित चार प्रकारों में विभाजित किया है। यह प्रकार निम्नलिखित हैं:—

१. घटना प्रधान उपन्यास—मानव की कौतूहल वृत्ति को प्रोत्साहन देने वाली कथाओं के आधार पर लिखे गए तिलस्मी और एय्यारी के उपन्यास इस कोटि में आते हैं। इनमें विचारात्मकता की अपेक्षा घटनाओं की प्रधानता रहती है। 'चन्द्रकान्ता' इसी कोटि की रचना है।

२. सामाजिक अथवा व्यवहार सम्बन्धी उपन्यास—चरित्र और व्यवहार सम्बन्धी आख्यानों को लेकर लेखक जिन उपन्यासों की रचना करता है। वह सामाजिक उपन्यास कहलाते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास इस श्रेणी में आ जाते हैं।

३. अन्तरङ्ग जीवन के उपन्यास—इस प्रकार के उपन्यासों में घटना को प्रधानता न देकर विचार और चिन्तन को प्रधानता मिलती है। जैनेन्द्र जी के सुनीता इत्यादि उपन्यास इस कोटि में आते में।

४. देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष—कुछ उपन्यासों में देशकाल को प्रधानता दी जाती है। और कुछ में नहीं। ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल पर विशेष ध्यान दिया जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा जी के उपन्यास इस कोटि के सुन्दर उदाहरण है।

उक्त सभी प्रकार के उपन्यास हिन्दी साहित्य में मिलते हैं। नीचे उपन्यास साहित्य के क्रमिक विकास में इन उपन्यास के प्रकारों, विभिन्न वादों और विचार-धाराओं पर, जिनके अन्तर्गत उपन्यास साहित्य प्रवाहित हो रहा है, विचार किया गया है।

हिन्दी का उपन्यास साहित्य

उपन्यास में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वर्णन की शैली और समस्या का स्पष्टीकरण आदि प्रधान वस्तुएँ रहती हैं। प्रारम्भ में जब उपन्यासों का हिन्दी में उदय हुआ तो घटना प्रधान उपन्यास लिखे गए जिनके विषय सम्भव और असम्भव दोनों ही प्रकार के थे। मुं० प्रेमचन्द से पूर्व जो उपन्यास और कथा-साहित्य लिखा गया वह इसी कोटि के अंतर्गत आता है। तिलस्मी, जासूसी, ऐयारी और विचित्र प्रकार की घटनाओं का यह साहित्य था जिसमें चमत्कार प्रधानता पाई जाती थी। जीवन के कठोर सत्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस काल में जो थोड़ा बहुत सामाजिक साहित्य लिखा भी गया वह भी अव्यवहारिक था और उसमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति इतनी अधिक थी कि उसे उपन्यास न कहकर अवास्तविकता के नाते आर्य समाजी पंडित का व्याख्यान कह सकते हैं। यह काल करीब ६० वर्ष तक चलता रहा।

भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र जी का ध्यान जहां साहित्य की अन्य दिशाओं की ओर गया वहाँ उपन्यास भी उनसे अछूता न रह सका। परन्तु खेद का विषय है कि उन्होंने जिस उपन्यास 'हम्मीरहठ' को प्रारम्भ किया उसे पूर्ण करने से पर्व ही आप का स्वर्गवास हो गया।

देवकी नन्दन खत्री—सन् १८९१ में देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकाँता संतति' उपन्यास प्रकाशित हुए। इन उपन्यासों की हिन्दी में धूम मच गई। प्रेमचन्द जी का मत है कि

देवकी नन्दन खत्री ने इन उपन्यासों की मूल वस्तु एक फारसी के विशाल ग्रंथ 'तिलस्म होशरुबा' से ली होगी। मूल वस्तु कहीं से भी ली हो परन्तु, हम इसे देवकी नन्दन जी की मौलिक रचना ही मानते हैं। 'चन्द्रकांता' में एक कुमारी के दो प्रेमियों का संघर्ष है। इस संघर्ष में अस्त्र-शस्त्र और चालाकी दोनों का प्रयोग किया गया है। 'चन्द्रकाँता संतति' में 'चन्द्रकांता की संतति से ऐयारी और तिलस्म के आकर्षणमय चमत्कारों का प्रस्फुटन हुआ है। संघर्ष इसमें भी प्रेम के द्वारा ही होता है। इन उपन्यासों में न तो रस संचार है और न चरित्र-चित्रण ही, न भाव गाम्भीर्य ही है और न कोई सामाजिक समस्या है, वहां तो कोरा घटना वैचित्र्य है जिसका सम्बन्ध कुतूहल-वृत्ति को जाग्रत करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

. इन उपन्यासों का क्षेत्र विश्व का कर्म-क्षेत्र न होकर चमत्कार और अद्भुत-प्रियता है जहाँ मानव संसार के संघर्षों से भागकर कायर की भांति अपने ही स्वार्थ में लिप्त हो जाना चाहता है। संसार का दुःख, ताप, कष्ट, हाहाकार, संघर्ष वहाँ नहीं पहुँचता और उस क्षेत्र में पात्र कठपुतली की भांति निर्जीव से कलाकार के हाथों में नाचते हैं। कठपुतली के तमाशे और रंगमंच पर वास्तविक पात्रों द्वारा किए गए अभिनय में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर इन उपन्यासों और चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यासों में है। इन उपन्यासों में रागों और मनोवेगों का आधार नहीं मिलता।

गोपाल राम गहमरी—देवकी नन्दन खत्री ने घटना-प्रधान उपन्यासों में जहाँ ऐय्यारी और खूनी कथा-वस्तु को अपनाया वहाँ गोपाल राम गहमरी जासूसी धारा को लेकर हिन्दी साहित्य में आए। घटना-प्रधानता की ओर तो जनता का ध्यान 'चन्द्रकांता' ने कर ही दिया था अब पाठकों को जासूसी विषयों में एक और नया चमत्कार दिखलाई दिया। आपने

जिन जासूसी उपन्यासों का श्रीगणेश हिन्दी में किया उनमें भारतीयता अथवा प्राचीनता का कुछ भी नहीं था और वह पूर्ण रूप से इंग्लैन्ड की देन है। स्काटलैन्ड यार्ड की पुलिस और जासूसों के साहस पूर्ण कार्य, निर्भीकता और बुद्धि के चातुर्य का इनमें दिग्दर्शन होता है। इंग्लैन्ड के हत्यारे डाकुओं का दमन इनमें दिखलाया गया था। फिलिप ओपेनहम, शरलाक होम्स, एडगद वेल्स इत्यादि के उपन्यासों की वहां धूम मच गई और उन्हीं से गहमरीजी भी प्रभावित हुए।

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि ऐयारी के उपन्यास, उपन्यास-साहित्य के निर्माण में प्रथम चरण की भांति थे, जिसमें आने वाली सर्म घटनाएँ स्वतन्त्र रहती हैं और उनका एक दूसरे से सम्बन्ध केवः नायक की कार्यकलापों द्वारा ही स्थापित होता है। उपन्यास साहित्य : दूसरा चरण जासूसी साहित्य में प्रस्फुटित होता है, जहां घटनाएँ क्रमबद्ध के साथ चलती हैं और कथावस्तु की तारतम्यता कहीं पर भी टूटने : पाती। घटनाएँ कार्यकारणरूप में गुथकर चलती हैं। जासूसी उपन्या में आशा, निराशा, भय, आनन्द, आशंका इत्यादि का उद्रेक वः बना रहता है और भावनाएँ तथा क्रियाकलाप कुतूहलपर्ण होते हुए बुद्धि से सम्बन्ध रखते हैं। जासूसी उपन्यास एक सीमित क्षेत्र में ही : कल्पना की उड़ान ले सकते हैं। ऐयारी-उपन्यासों की भांति अपरिमि में नहीं। इस प्रकार यह उपन्यास मानव के अधिक निकट आते थे। इनमें दैवी और जादू की भावनाओं का लोप और व्या भावनाओं का समावेश होने लगा। जासूसी कथाएँ मानवह होती थीं और उनमें जिन पात्रों का चित्रण दिया गया है वह भ रिक हैं असांसारिक नहीं। मानव का साहस, निर्भीकता, शक्ति, विषयक प्रवृत्तियों का समावेश इन उपन्यासों में मिलता है।

जब हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास लिखे जा रहे थे उसी समय बंगला साहित्य में सामाजिक उपन्यासों का प्रचलन हो गया था। हिन्दी में उस प्रचलन का अनुकरण किशोरीलाल गोस्वामी ने किया और छोटे बड़े ६५ उपन्यास लिखे। समाज की बुराइयों से अवगत होने पर भी उनके विरुद्ध विद्रोह करने का उनमें साहस नहीं था। यह वह उत्थान काल था जब समाज करवट ले रहा था और लेखक समाज की रूढ़िवादी अप्रगति से परिचित होता जा रहा था। किशोरीलाल जी समाज सुधारक आंदोलनों को अपने उपन्यासों में चित्रित करने में असमर्थ रहे।

किशोरीलाल जी शैली, कला और विचारावलि के विचार से अपने साहित्य में कोई मौलिकता नहीं रखते। आपके उपन्यासों में तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की घटना प्रधानता थी। जोकि सामाजिकता के गम्भीर क्षेत्र में जाकर नीरस सी प्रतीत होने लगती थी और फिर उनका उपदेशात्मक ढंग तो इस शैली में आकर और भी नीरस हो जाता था। गोस्वामी जी अपने उपन्यासों में परम्परा से चली आने वाली प्रेमकहा-नियों के प्रति अपने गठबन्धन और मोह को तोड़कर उससे मुक्त नहीं हो पाए हैं और इसलिए आपके साहित्य में रूढ़ियां ज्यों की त्यों वर्तमान दिखलाई देती हैं। आपके उपन्यासों में केवल नायक और नायिका के विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। घटनाओं और समस्याओं के विकास तक पहुँचने का तो गोस्वामी जी ने स्वप्न भी नहीं देखा।

सामाजिक उपन्यास

हिन्दी गल्प के प्रथम विकास के अंतर्गत हम अध्ययन कर चुके हैं कि उस काल में लेखक केवल मनोरंजन की भावना को लेकर ही गल्प साहित्य का निर्माण करना सीखे थे। उनकी रचनाओं में तिलस्मी, एय्यारी, भूत प्रेतों की कथाएँ, मार काट और उछल कूद और यदि इससे कुछ आगे बढ़े तो सामाजिक क्षेत्र की संकुचित विचारधाराएँ, जिनमें

आख्यानों का धर्म-उपदेश निहित था, मिलती है। भारतेन्दु के नाटकों और उनके समकालीन लेखकों में जो राष्ट्रीय चेतना मिलती है, खेद का विषय है कि वह चेतना उपन्यास आदि साहित्य में न आ पाई। इस काल के मौलिक उपन्यासों की अपेक्षा अनुवादों में अधिक जागरण और प्रगति की भावना थी। देश और समाज एक महान् संघर्ष के युग में होकर गुज़र रहे थे। उन्हें उत्थान की आवश्यकता थी। समाज दिन प्रतिदिन सुसंगठित होता जा रहा था। समाज में मानव का स्थान अन्य प्रेरणाओं पर विशेषता पाता जा रहा था। कांग्रेस के आंदोलन ने राष्ट्रीय चेतना से भी भारत को पूर्ण रूप से आच्छादित कर दिया था। अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध एक ऐसा वातावरण देश में उपस्थित हो चुका था जिससे उस काल का साहित्य मुक्त नहीं रह सकता। यह सामाजिक और राजनीतिक चेतना का युग था। इस काल में केवल घटना-प्रधान और चमत्कार-प्रधान साहित्य लेकर समाज और राष्ट्र की तुष्टि नहीं हो सकती थी। शृंगार और प्रेमलीला की गाथाओं का समय समाप्त हो चुका था। हिन्दी में अन्य भाषाओं से जो अनुवाद आए उन्होंने मौलिक रचनाओं के कार्यक्रम में परिवर्तन किया और एक नवीन मार्ग-प्रदर्शन किया।

प्रेमचन्द—इस काल में प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकार की हिन्दी को आवश्यकता थी और वह उसे मिला। आपने हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में युगान्तर किया और प्राचीन समस्त रूढ़िवादी परम्पराओं को छिन्न-भिन्न करके एक नूतन मार्ग सामने रखा। आपने यथार्थ और आदर्श में सामंजस्य स्थापित करके जीवित साहित्य हिंदी को प्रदान किया और कठ-पुतली के तमाशे वाले तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों का रुख साहि-त्यिक दृष्टि से रोक दिया। जीवन का दृष्टिकोण लेकर आपने अपने साहित्य का निर्माण किया और समय की आवश्यकताओं की पूर्ति की

जीवन की दुर्बलता, सबलता, धैर्य, उत्साह, खेद, विषाद, मोह, प्रेम, शृंगार, वीरता, सुरूपता, कुरूपता, हर्ष, शोक सभी वृत्तियाँ, समाज की समस्याएँ तथा राष्ट्र की चेतना प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का विषय बनीं।

उपन्यास-साहित्य के पाठक और प्रशंसक पैदा करने का श्रेय देवकीनन्दन खत्री को है। परन्तु इन पाठकों की तृप्ति करने योग्य साहित्य इन्हें नहीं मिला था। इसलिए प्रेमचन्द जी को खुला हुआ क्षेत्र मिल गया और आपके साथ 'प्रसाद', 'कौशिक', वृन्दावन लाल वर्मा, जैनेन्द्र-कुमार, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन, बेचनशर्मा, 'उग्र' भगवती-चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेई, 'सुदर्शन' आदि अनेकों महारथी उपन्यास-क्षेत्र में कूद पड़े और साहित्य-भंडार को अपनी अमूल्य कृतियों से भर दिया। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि प्रेमचन्द ने समाज और राष्ट्र की जिस मूल प्रेरणा को लेकर उपन्यास-साहित्य का निर्माण किया वह प्रेरणा बंगला, गुजराती और मराठी साहित्य की नारी-प्रधान प्रेरणा से आदर्श और देश-समाज की आवश्यकता के विचार से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थी। परन्तु खेद का विषय है कि हिन्दी साहित्य के उत्थान की ओर राष्ट्रीय नेताओं ने कभी ध्यान नहीं दिया, जब कि भारत की राष्ट्रीय चेतना का हिन्दी साहित्य ने पग-पग पर समर्थन और प्रचार किया और जनता में उस धारा को प्रवाहित करने में अपना सर्वस्व लगा दिया। इसी काल में जब बंगला के बड़े-बड़े उपन्यासकार अपने उपन्यासों में आकर्षण पैदा करने के लिए केवल नारी समस्या और धर्म-सुधार की भावनाओं को टटोलते फिरते थे उस समय प्रेमचन्द ने अपने 'कर्मभूमि' और 'गोदान' जैसे उपन्यास लिखकर एक राष्ट्रीय और सामाजिक क्रान्ति का सन्देश दिया। प्रेमचन्द के अनुकरणीय लेखकों में कौशिक जी का प्रधान स्थान है।

प्रसाद धारा

देश समाज सुधार और राष्ट्रीय आंदोलनों की पुकार से पूर्ण था। मानव के प्रति चेतना उत्पन्न होने लगी थी और साहित्य विलास के क्षेत्र से कर्तव्य के क्षेत्र में अवतीर्ण होता जा रहा था। मानव का विकास हो रहा था। इस विकासवाद के साथ वैज्ञानिक विकास भी पूर्ण प्रगति पर था और इसके फलस्वरूप पूँजीवाद ने जन्म ही नहीं ले लिया था वरन् यह समस्त संसार पर छाया हुआ था। पूँजीवाद और कलावाद ने मानव के महत्व को कम करना प्रारम्भ कर दिया था और यही कारण था कि इस काल का साहित्यिक उपेक्षित वर्ग के प्रति विशेष रूप से जागरूक हुआ और शोषित वर्ग की समस्या प्रधान रूप से सामने आई।

प्रेमचन्द और कौशिक जी के साहित्य पर दृष्टि डालकर हम इन भावनाओं का परीक्षण कर चुके हैं। जयशंकर प्रसाद जी भी इस विचार धारा से विमुख होकर चले हों ऐसी कुछ बात नहीं है, परन्तु आपके लिखने की शैली प्रेमचन्द जी से सर्वथा भिन्न है और इसीलिए हमने आपकी काव्य-धारा को पृथक् ही प्रवाहित किया है।

प्रसाद जी का प्रथम उपन्यास 'कंकाल' है जिसमें एक दीन कंकाल का यथार्थवादी चित्रण आपने अंकित किया है। "कंकाल" में सामाजिक मान्यताओं का उपहास किया गया है। 'प्रसाद' और 'प्रेमचन्द' के उपन्यासों का मूल भेद यहीं पर है कि प्रसाद के उपन्यास चरित्र प्रधान हैं और प्रेमचन्द के समस्या प्रधान, यहाँ पात्र विशेष के लिएउपन्यास निर्माण हुआ है समस्या विशेष के लिए पात्र नहीं चुने गए। ऐसे पात्रों को लेखक के संकेत पर चलना होता है और इस प्रकार कभी-कभी उनमें कृत्रिमता भी आ जाती है। 'कंकाल' में आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय मिलता है। चित्रण यथार्थ अवश्य है है, परन्तु उच्छृङ्खलता की सीमा

तक नहीं । कलाकार ने सामाज का चित्रण अवश्य किया है परन्तु इतिहास नहीं लिखा, लिखा उपन्यास है, साहित्यपूर्ण, कलापूर्ण और साथ-साथ मनोरंजकपूर्ण भी । समाज की सबलता और दुर्बलता दोनों का विकास कलाकार की लेखनी द्वारा हुआ है ।

उग्र धारा—आदर्श और यथार्थ के समन्वय की भावना का दिग्दर्शन हमने 'प्रेमचन्द', 'प्रसाद' और 'कौशिक' की साहित्य धारा में कराया । 'हृदयेश' के उपन्यासों में आदर्शवाद की प्रधानता रही । इसी काल में देश के अन्दर एक उच्छृङ्खल यथार्थवाद की लहर दौड़ रही थी । इस धारा के लेखक विशेष रूप से नग्न शृंगारिक चित्रणों को करना मात्र ही अपने साहित्य का लक्ष्य समझते थे । 'प्रेमचन्द ने वेश्या' का भी चित्रण सेवा सदन में किया है परन्तु सामाजिक मर्यादा को हाथ से नहीं जाने दिया है किन्तु इस धारा के लेखकों के सम्मुख मर्यादा का कोई महत्व नहीं था ।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री—आचार्य चतुरसेन शास्त्री इसी धारा के उपन्यास लेखक हैं । इन्होंने हृदय की परख, अमर अभिलाषा, आत्मदाह और वैशाली की नगरवधू पांच उपन्यास लिखे हैं । 'अमर अभिलाषा' में विधवाओं की मंत्रणाओं का नग्न चित्रण है ।

पांडय वेचन शर्मा उग्र—हिन्दी साहित्य में जो नग्न यथार्थवाद आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी लेकर खड़े हुए उसका और भी उच्छृंखल रूप उग्र जी की लेखनी द्वारा प्रस्फुटित हुआ । यथार्थवाद का प्रकृतरूप जो 'प्रसाद' जी की कला में प्रस्तुत हुआ इस धारा के प्रवर्तकों ने पास तक भी फटकने दिया । उग्र जी यथार्थवाद के एकांगी स्वरूप को लेकर खड़े हुए और वास्तविकता का प्रतिपादन इन्होंने अश्लीलता के रूप में किया । इस साहित्य ने नवीन प्रगतिवादी युवकों को खूब रिझाया और एक बार हिंदी जगत में गर्मी आ गई ।

ऐतिहासिक उपन्यास धारा

ऐतिहासिक उपन्यास धारा—संसार में जो वस्तु जितनी दूर है वह उतनी ही सुन्दर है। कल्पना का आश्रय लेकर अतीत का उद्‌घाटन होता है और श्रद्धा के साथ उसका रेशमी घूंघट उतारा जाता है। प्राचीन के प्रति श्रद्धा होती है, ममता होती है, प्रेम होता है, आकर्षण होता है, उत्कंठा होती है और फिर इतिहास का सहारा लेकर कल्पना की तूलिका से उसे चित्रित किया जाता है। हिंदी नाटक-साहित्य में अतीत के प्रति 'प्रसाद' का चमत्कारपूर्ण आकर्षण हम पीछे देख चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार उन्होंने प्राचीन और वर्तमान में सामंजस्य स्थापित किया। काव्य और नाटक-क्षेत्र में प्राचीन का चित्रण परम्परा से चला आ रहा था और उनमें धर्म के साथ समाज और राष्ट्र किसी न किसी रूप में चित्रित हुए बिना नहीं रहते थे, परन्तु उपन्यास है वर्तमान युग की देन। चमत्कार-प्रधान क्षेत्र से यह समाज के क्षेत्र में अवतरित हुए थे और अब इन्होंने भारत के प्राचीन गौरव को भी अपने अन्तर्गत स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दी साहित्य में इस भावना के जन्मदाता श्री वृन्दावनलाल वर्मा हैं जिन्होंने अतीत को पाठकों के सम्मुख शुष्क इतिहास के विषय से निकालकर उपन्यास के विषय में सजाया और फिर पाठकों के सामने एक कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया। भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं में (बंगाली, गुजराती, मराठी) इससे पूर्व कुछ सुन्दर ऐतिहासिक रचनाएँ लिखी जा चुकी थीं।

'गढ़कुंडार,' 'विराटा की पद्‌मिनी,' 'मुसाहबजू', 'झांसी की रानी,' 'कचनार,' इत्यादि वृन्दावनलाल जी के ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

—संक्षेप—

इस प्रकार यहां हम हिन्दी उपन्यास साहित्य के द्वितीय विकास को समाप्त करते हैं। इसके अन्तर्गत उपन्यास-साहित्य मनोरंजन के क्षेत्र से

निकल कर मानव-जीवन, समाज और राष्ट्र के अध्ययन की ओर अग्रसर हुआ। तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी विचारधाराएँ समाप्त हो गईं और देश के इस उत्थान काल में हिन्दी-साहित्य की अन्य धाराओं के साथ उपन्यास-धारा ने भी प्रगति और लोक-हित के पथ पर कदम रखा। देश में समाज-सुधार की भावना ने जन्म लिया। समाज की कुरीतियों की ओर लेखकों का ध्यान गया और आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का आश्रय लेकर प्रतिभाशाली व्यक्ति क्षेत्र में उतर पड़े। गतकाल में जो उपन्यास-साहित्य सृजन हुआ था उसमें उपन्यास पढ़ने की अभिरुचि के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, वल्कि उसे उपन्यास पढ़ने का व्यसन भी हम कह सकते हैं, क्योंकि वह साहित्य उद्देश्यविहीन था। इस काल में जो साहित्य लिखा गया वह उद्देश्यविहीन न होकर सारगर्भित और आदर्शोन्मुख था। कोरे यथार्थवाद को लेकर जो महारथी क्षेत्र में आए वह भारतीय मानव, समाज और राष्ट्र का कुछ अधिक हित नहीं कर सके। यह सत्य है कि उस समय उस साहित्य को कुछ वासना-प्रधान अधकच्चरे युवक-मस्तिष्क ने रुचि के साथ पढ़ा और अपनाया परन्तु वह व्यापक न वन सका और समाज में उसका स्थायी सम्मान भी नहीं हुआ। आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी ने 'वैशाली की नगरवधू' लिख कर स्वयं अपना मार्ग वदल दिया। उग्र जी ने 'जीजी जी' लिखकर एक नवीन आदर्शवादी मार्ग ग्रहण किया है और ऋषभचरण जी पागल वने दिल्ली के वाजारों में घूमा करते हैं—सम्भवतः अव वह भविष्य में कुछ नहीं लिख सकेंगे। इस प्रकार इस काल के साहित्य की विशेषता समाज और राष्ट्र की पुकार है जिसे उपन्यास-साहित्य अपनी आत्मा मानकर अनुप्राणित हुआ है। यह साहित्य इस काल का अमर इतिहास है जो कभी मिट नहीं सकता। इसमें इस युग के समाज का जीवित चित्रण है और सुन्दर चित्रांकन शैली। इस काल के लेखकों ने देश और राष्ट्र की पुकार को अपनी लेखनी द्वारा इतनी

सुन्दरता से चित्रित किया है कि उसमें मानव के मनोवैज्ञानिक गुणों का समावेश हो गया है। वह इस काल का अमर साहित्य है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास—मानव सभ्यता के नवीनतम दृष्टिकोण की ओर बढ़ रहा था। भारत पर पाश्चात्य सभ्यता अपना व्यापक प्रभाव छोड़ रही थी। भारतीय आदर्शों को सामने रखकर भारतीय समाज को चेतना देने में अपना भरसक प्रयत्न कर रहे थे और भारतीय साहित्य भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति द्वारा पूर्व और पश्चिम में सामंजस्य स्थापित करके राष्ट्र के उत्थान की ओर अग्रसर था, परन्तु फिर भी प्रभाव अच्छे प्रभावों की अपेक्षा छूत की बीमारियों की भांति समाज में शीघ्र प्रचारित और प्रसारित हो रहे थे। वैज्ञानिक प्रगति ने रूढ़िवाद का तो अन्त कर ही दिया परन्तु इस काल में आकर कुछ ऐसी वैयक्तिक रूढ़ियां बन गईं कि जो प्राचीन रूढ़ियों से किसी से किसी भी प्रकार कम नहीं थीं। इन रूढ़ियों द्वारा वर्तमान वादों का जन्म हुआ और इन वादों ने कुछ आकांक्षाओं के आधार पर मानव के विकास को कलवाद के क्रम में बाँधकर इतना जड़ कर दिया कि उसका मस्तिष्क, उसकी भावनाएँ, उसकी कल्पनाएँ सब जड़ होकर रोटी और कपड़े तक ही सीमित रह गईं।

ऐसे युग में लेखक का उत्तरदायित्व गत युग की अपेक्षा और अधिक तथा व्यापक हो गया। केवल यथार्थवाद और आदर्शवाद का चित्रण मात्र कर देने भर से लेखक का भला नहीं हो सकता था। इस काल में आवश्यकता थी ऐसे लेखकों की जो यथार्थवाद की ओर से आंखें बन्द न करके मनोविज्ञान द्वारा प्राचीन और नवीन रूढ़ियों को भेद कर एक ऐसा प्रकाशवान चरित्र अपने पाठक के सम्मुख रखे कि जिससे पाठक वाह्यद्वन्द और अन्तर्द्वन्दों का समान रूप से अध्ययन कर सके। पाठक की प्रेरणाशक्ति का विकास करना आज के कला का लक्ष्य होना चाहिए और किस प्रकार परिस्थितियों के अन्तर्गत मानव विकास और

प्रगति की ओर अग्रसर हो सकता है इसका सफल चित्रण में आज का लेखक कलाकार हो सकता है। मानव का विकास और मानव की प्रगति ही आज के साहित्य का प्रधान विषय है, प्रेरणा है और मूल भावना भी रही है। यों गम्भीर विश्लेषण और मनोवैज्ञानिक चित्रण में यत्र तत्र 'प्रसाद' 'प्रेमचन्द' और 'कौशिक' जी की रचना में मिल जाते हैं परन्तु उनकी रचनाएँ जिन उद्देश्यों को लेकर लिखी गई थीं उनमें इस प्रकार के गम्भीर खोज की न तो आवश्यकता ही थी और न इन कलाकारों ने प्रयत्न ही किया। जो कुछ यत्र तत्र बन पड़ा है वह स्वाभाविक है और कलाकारों की अलौकिक प्रतिभा का प्रमाण। उन कलाकारों के के सम्मुख सिद्धान्त और आदर्श पहले था और मानव का गम्भीर विवेचन बाद में। आज का युग जनवाद का युग है जिसमें 'जन' पहले है और 'जन' पर ही समाज और राष्ट्र सब अवलम्बित हैं। इसलिए आज के लेखक के सम्मुख जितना बड़ा महत्व मानव का है उतना समाज अथवा राष्ट्र का नहीं क्योंकि मानव के विश्लेषण होने पर समाज और राष्ट्र तो बच ही नहीं सकते, उन्हें तो स्वयं क्षेत्र में उतर आना पड़ता है। मानव सीमित होकर घर की चार दीवारों में बैठा नहीं रह सकता उसका कार्यक्षेत्र समाज और राष्ट्र ही होंगे और जब कलाकार मानव के विकास पर लेखनी उठाएगा तो समाज और राष्ट्र पर टिप्पणी करना उसके लिए अनिवार्य हो जाएगा। गत युग के लेखकों ने प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह अवश्य किया है परन्तु साथ साथ कुछ अपनी ऐसी रूढ़ियों का भी निर्माण कर दिया कि कहीं कहीं पर तो उनकी रचनाएँ उपदेशात्मक आख्यान मात्र बन गई हैं और वह कोरी कल्पना के क्षेत्र में जा खड़ी होती हैं।

हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक आधार पर भावनाओं का चित्रण जैनेन्द्रकुमार ने किया है। इसीलिए मैं इस तृतीय धारा का

प्रवर्तक जैनेन्द्रकुमार को मानते हैं। आपके साहित्य में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का प्रतिपादन नहीं किया गया वरन् समस्याओं तथा भावनाओं का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यथार्थवाद की आधारशिला पर रखकर किया गया है। यहां यथार्थवाद शब्द पढ़कर पाठक आचार्य चतुरसेन शास्त्री और 'उग्र' के यथार्थवाद की कल्पना करने का प्रयत्न न करें। बुद्धि के पारखी लेखक ने हृदय की खोज करना और उसमें पैदा होने वाले रागों का मानसिक संघर्षों से सामंजस्य स्थापित करना खूब सीखा है। बुद्धि और हृदय के व्यापक क्षेत्रों पर कलाकार का समान अधिकार है।

जैनेन्द्रकुमार ने एक वैज्ञानिक की भांति अपने उपन्यासों के पात्रों के जीवन में पैठकर उनके प्रधान तत्वों की परख की है और बुद्धिगम्य विश्लेषण करके उनकी इच्छाओं, आकांक्षाओं और मनोभावनाओं का ऐसा तत्वनिरूपण किया है कि उनके पात्रों का छिपा हुआ कुछ भी नहीं रह जाता। जैनेन्द्र की वैज्ञानिकता कहीं-कहीं पर दार्शनिक बनकर पाठक को खटकने भी लगती है और रचना में नीरसता भी पैदा कर देती है। दार्शनिक वाद-विवादों से भरे हुए स्थल विचारक पाठकों के लिए जहां विशेष मनोरंजन और वादविवाद के विषय हैं वहां साधारण कलाप्रिय मनोरंजन प्राप्त करने वालों को वह शुष्क प्रतीत होने लगते हैं, परन्तु यह लेखक का दोष नहीं, पाठक की मनोवृत्ति है।

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में समस्या और उस पर वर्तमान युग का तार्किक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। भूत और वर्तमान की आधारशिला पर भविष्य का निर्माण करना दार्शनिक और प्रतिभाशाली लेखक का कर्तव्य है, परन्तु कर्तव्य के निर्वाह में मूल सत्य इतना कठोर न हो जाए कि पाठक को अप्रिय लगने लगे, यह ध्यान भी कुशल लेखक को रखना चाहिए। इस ध्यान के प्रति हमें जैनेन्द्र जी उदासीन से प्रतीत होते हैं और जो कुछ भी इस ध्यान की पूर्ति उनकी रचनाओं में आ गई है

वह उनका प्रयास न होकर स्वाभाविक कला का विकास है, जिसे जैनेन्द्र जी को प्रस्तुत करना पड़ा है और पड़ता रहेगा। प्रयास दार्शनिकता की ओर दिखलाई देता है जिसके कारण चाहे पाण्डित्य और दर्शन का विकास भले ही हो जाए, परन्तु कला को तो कलाकार से हाथ धोने पड़ जाएँगे और यह हिन्दी के उपन्यास-साहित्य के लिए खेद का विषय होगा। दार्शनिक तथ्यों की ही यदि छान-बीन करनी हो तो उपन्यास न लिखकर दर्शन-शास्त्र पर ठोस ग्रन्थ भी लिखा जा सकता है और ऐसे ग्रंथ लिखे गए हैं जिनमें विशुद्ध दार्शनिक विचारों पर वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया है।

प्रगतिवादी धारा—जैनेन्द्र जी की साहित्यिक प्रगति और मनोविज्ञान के विकास पर हमने दृष्टिपात किया। जैनेन्द्र में प्रगति है परन्तु गाधीवाद के सिद्धान्तों की विशुद्ध रूपरेखा भी उसने अपने साहित्य द्वारा प्रस्तुत की है और युग का यथार्थवादी चित्रण भी किया है। देश की व्यापक राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों के साथ ही साथ विदेशी प्रभाव भी साहित्य पर अपनी छाप डाल रहा था। योरोप के कथा-साहित्य पर फ्रायड इत्यादि के मानसिक विश्लेषण का गहरा प्रभाव था और उसकी उच्छृंखलता का श्री गणेश भारत में भी प्रारम्भ होने लगा था। इस उच्छृंखलता को हम गत युग की उच्छृंखलता का मनोवैज्ञानिक विकास भी कह सकते हैं। उग्र-धारा का यह वह प्रखर रूप था जिस पर विदेशी एडगर, जुंग इत्यादि विद्वानों के मानसिक तर्क-विवेचन का प्रभाव इतनी बुरी तरह पड़ चुका था कि उन्हें संसार की प्रत्येक वस्तु इसी रंग में रँगी हुई दिखलाई देती थी। इस विचारधारा के अन्तर्गत मानव-प्रवृत्तियों को पशु-प्रवृत्तियों के मूल में रखकर विचार किया जाता है और फिर उनके क्रमिक विकास में मानव के विकास की अनुमति होती है। और अधिक खुले रूप में यदि समझना हो तो इसमें मानवता की निर्बलता का वह उपहास है जिसे वह

(९)

कहानी और एकांकी नाटकों के लक्षण

गल्प साहित्य पर विचार करते समय जहां हमने उपन्यास साहित्य को इतने विस्तार के साथ लिया है वहां कहानी साहित्य के विकास का भी एक सुन्दर और सुव्यवस्थित क्रम है। जिस प्रकार उपन्यास मानव-जीवन की व्याख्या है उसी-प्रकार कहानी में एक घटना अथवा समस्या का स्पष्टीकरण रहता है। मु० प्रेमचन्द के शब्दों में "आख्यायिका केवल घटना है।" मुन्शी प्रेमचन्द के युग में यह परिभाषा पूर्णरूप से सत्य थी परन्तु आज जब अधिकांश कहानियों में घटना होती ही नहीं तो वह सत्यता समाप्त होती जा रही है। प्रेमचन्द ने स्वयं भी लिखा है, वर्तमान आख्यायिका (या उपन्यास) का आधार ही मनोवैज्ञानिक है। घटनाएँ या पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाए जाते हैं। उनका स्थान बिल्कुल गौण है। उदाहरणार्थ मेरी 'सुजान भगत' मुक्ति मार्ग, पंचपरमेश्वर, शतरंज के खिलाड़ी इत्यादि कहानियों में एक न एक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार कहानी एक घटना है जिसका स्थान मानव के मन में भी हो सकता है और मानव की बाह्य परिस्थिति में भी। आज की कहानी में नानी

कहानी क्या है?

धेदते वाली कल्पना प्रवृत्ति का विकास न होकर बुद्धि और भावना-तत्व की प्रधानता है। जीवन के विविध पहलुओं को लेकर आज का कहानी-लेखक रचनाएँ लिखता है और मानव की नई से नई समस्या का यथार्थवादी स्पष्ट और व्यंग्य-प्रधान चित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

कहानी में गल्प और मनोरंजक-साहित्य होने के नाते विचारात्मकता लेखक को इतनी नहीं भर देनी चाहिए कि वह कोई विचारात्मक निबन्ध ही बन जाए। कहानी-लेखक कल्पना पर आश्रित होकर कोरे मनोरंजन-के लिए भी कहानी लिखता है। वह सर्वदा नीति, रीति, धर्म और विज्ञान में ही उलझा हुआ नहीं रह सकता। मनोरंजन मानव के जीवन की वह प्रधान आवश्यकता है जिसके बिना जीवन नीरस हो जाता है। इसलिए केवल कोरी मानव की मनोरंजक वृत्तियों को तृप्त करने वाली कहानियों को भी हम कहानी ही कहेंगे।

कहानी में मानव अमानव सभी प्रकार के पात्र लिए जा सकते हैं। आधुनिक कहानी और उपन्यास संस्कृत साहित्य की देन न होने से इसका प्रारम्भिक रूप प्राचीन साहित्य में देखने को नहीं मिलता। फिर भी गम्भीर विषयों को सरल बनाकर जनता को समझाने के लिए संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने प्रयास अवश्य किया है। जावालि और नचिकेता के उपाख्यान इसी प्रकार के प्रयास प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद की अलापा की कथा और ब्राह्मणों की रोहित तथा वामदेव की कथा भी कहानी के ही प्राचीनतम रूप से प्रतीत होते हैं। संस्कृत साहित्य के पश्चात बौद्ध साहित्य में भिक्षुओं की कथाएँ मिलती हैं। यह कथाएं मध्य ऐशिया, योरोप, अरब और मिश्र देश तक बौद्ध भिक्षुओं ने फैलाईं। डेमी ट्रीमिस ने यूनान में इनका संकलन किया और "ईसप की कहानियाँ" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। यूरोप के सत्तरहवीं शताब्दी के साहित्य पर इन कहानियों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जातक-कथाएं

पाली और प्राकृत में लिखी गईं और बाद में अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन्हीं बौद्ध-कथाओं को आधार बनाकर रचनाएँ की गईं। ६०० ई० पूर्व गुणाढ्य की 'वृहत् कथा' लिखी गई। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं। इस ग्रंथ की "वृहत् कथा मंजरी" और "कथा सरित्सार" में कथाएँ मिलती हैं। इन कथाओं का लेखन उपदेशात्मक प्रवृत्ति को लेकर हुआ, परन्तु अभिव्यंजना और कल्पना का आधिक्य हो जाने से यह मनोरंजन की पूर्ति करने में सफल हुईं। "दशकुमार चरित" की रचना तक क्रमशः इनका आदर्शवादी धार्मिक दृष्टिकोण बदलकर मनोरंजक हो गया।

आज की कहानी इस प्राचीन कहानी से जन्म लेकर नहीं आई।

कहानी के तीन तत्व

आज जो कथा-साहित्य हमारे सम्मुख है यह पूर्ण रूप से पश्चिम की उपज है। कहानी का जो रूप हम आज देखते हैं यह १६ वीं शताब्दी से पूर्व वर्तमान नहीं था। कहानी-तत्व केवल नाटकों और उपन्यासों में ही मिलता था। कहानी ने नाटक से कथोपकथन और नाटकीयता ग्रहण की और उपन्यास से चरित्र-चित्रण और काव्य से रसात्मकता तथा प्रकृति-चित्रण; और इस प्रकार कहानी ने नाटक, काव्य और उपन्यास तीनों के प्रधान गुणों को अपने में सन्निहित करके स्वयं को पाठकों के विशेष मनोरंजन का साधन बना लिया। इन्हीं तीनों तत्वों के आधार पर आज कहानी साहित्य की व्यापकता विशेष उल्लेखनीय है।

कहानी की रचना करने के लिए कहानी में कुछ विशेष नियमों और

रचना और परिभाषा

गुणों का समावेश लेखक करते हैं और उन्हीं के आधार पर समीक्षकों ने कहानी के आकार का विश्लेषण करके कुछ नियम भी बनाए हैं। कहानी में एक भाव, एक घटना, एक स्थान और एक चरित्र होना

चाहिए। यह नियम समीक्षकों का है, परन्तु लेखक इन्हें कहाँ तक निभाता है, यह कहना कठिन है। सभी नियम एक कहानी में कठिनाई से ही निभ पाते हैं। इन सभी नियमों का कहानी के कथानक से सम्बन्ध है। एक उद्देश्य को लेकर एक दृष्टिकोण से लिखी गई कहानी में एक ही भाव भी संचारित होगा। कहानी का बीजवस्तु एक होना आवश्यक है और वह स्पष्ट होना चाहिए। यदि लेखक अपने बीजवस्तु से पृथक् होकर कथा में निरुद्देश्य भटकने लगता है तो कथा विशृंखल हो जाएगी। कथा के कथानक को सर्वदा बीजवस्तु पर ही केन्द्रित होकर चलाना आवश्यक है।

कथा के तीन अङ्ग

कथा के तीन प्रधान अंग आरम्भ, कथानक और अन्त हैं। इन सभी का समुचित विकास होने से संतुलित कहानी का निर्माण होता है। परन्तु लेखक बहुत कम इन पर विचार करके लेखनी उठाता है। कथा में एक घटना न होकर यदि अनेक घटनाएँ हो जाती हैं तो वह कथा के सूक्ष्म कलेवर में पूरी तरह विकसित नहीं हो पातीं। लेखक को ध्यान रखना चाहिए कि यदि कहीं पर दो कथाओं का देना अनिवार्य ही हो जाए तो उन कथाओं को आपस में इस प्रकार जकड़ देना चाहिए कि उनमें शिथिलता न आने पाए। कहानी मे जितने भी कम पात्रों का समावेश हो सके उतना ही अच्छा है। व्यर्थ के पात्र कथा में आ जाने से कथा का विकास रुक जाएगा। लेखक को कथा लिखते समय ध्यान रखना चाहिए कि कहीं पर भी तारतम्य टूटने न पाए। कथा को जहाँ तक हो सके सांकेतिक रूप देना चाहिए और उसके विकास में कोई बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिए। कथा की रचना में इतिवृत्तात्मकता आ जाने पर वह कथा न रहकर निबन्ध बन जाएगा। कथा का आकार बिना सांस्कृतिक प्रवृत्ति के स्थिर

पाली और प्राकृत में लिखी गईं और बाद में अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन्हीं बौद्ध-कथाओं को आधार बनाकर रचनाएँ की गईं। ६०० ई० पूर्व गुणाढ्य की 'बृहत् कथा' लिखी गई। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं। इस ग्रंथ की "बृहत् कथा मंजरी" और "कथा सरित्सार" में कथाएँ मिलती हैं। इन कथाओं का लेखन उपदेशात्मक प्रवृत्ति को लेकर हुआ, परन्तु अभिव्यंजना और कल्पना का आधिक्य हो जाने से यह मनोरंजन की पूर्ति करने में सफल हुई। "दशकुमार चरित" की रचना तक क्रमशः इनका आदर्शवादी धार्मिक दृष्टिकोण बदलकर मनोरंजक हो गया।

कहानी के तीन तत्व

आज की कहानी इस प्राचीन कहानी से जन्म लेकर नहीं आई। आज जो कथा-साहित्य हमारे सम्मुख है यह पूर्ण रूप से पश्चिम की उपज है। कहानी का जो रूप हम आज देखते हैं यह १६ वीं शताब्दी से पूर्व वर्तमान नहीं था। कहानी-तत्व केवल नाटकों और उपन्यासों में ही मिलता था। कहानी ने नाटक से कथोपकथन और नाटकीयता ग्रहण की और उपन्यास से चरित्र-चित्रण और काव्य से रसात्मकता तथा प्रकृति-चित्रण; और इस प्रकार कहानी ने नाटक, काव्य और उपन्यास तीनों के प्रधान गुणों को अपने में सन्निहित करके स्वयं को पाठकों के विशेष मनोरंजन का साधन बना लिया। इन्हीं तीनों तत्वों के आधार पर आज कहानी साहित्य की व्यापकता विशेष उल्लेखनीय है।

रचना और परिभाषा

कहानी की रचना करने के लिए कहानी में कुछ विशेष नियमों और गुणों का समावेश लेखक करते हैं और उन्हीं के आधार पर समीक्षकों ने कहानी के आकार का विश्लेषण करके कुछ नियम भी बनाए हैं। कहानी में एक भाव, एक घटना, एक स्थान और एक चरित्र होना

चाहिए। यह नियम समीक्षकों का है, परन्तु लेखक इन्हें कहाँ तक निभाता है, यह कहना कठिन है। सभी नियम एक कहानी में कठिनाई से ही निभ पाते हैं। इन सभी नियमों का कहानी के कथानक से सम्बन्ध है। एक उद्देश्य को लेकर एक दृष्टिकोण से लिखी गई कहानी में एक ही भाव भी संचारित होगा। कहानी का बीजवस्तु एक होना आवश्यक है और वह स्पष्ट होना चाहिए। यदि लेखक अपने बीजवस्तु से पृथक् होकर कथा में निरुद्देश्य भटकने लगता है तो कथा विशृंखल हो जाएगी। कथा के कथानक को सर्वदा बीजवस्तु पर ही केन्द्रित होकर चलाना आवश्यक है।

कथा के तीन अङ्ग

कथा के तीन प्रधान अंग आरम्भ, कथानक और अन्त हैं। इन सभी का समुचित विकास होने से संतुलित कहानी का निर्माण होता है। परन्तु लेखक बहुत कम इन पर विचार करके लेखनी उठाता है। कथा में एक घटना न होकर यदि अनेक घटनाएँ हो जाती हैं तो वह कथा के सूक्ष्म कलेवर में पूरी तरह विकसित नहीं हो पातीं। लेखक को ध्यान रखना चाहिए कि यदि कहीं पर दो कथाओं का देना अनिवार्य ही हो जाए तो उन कथाओं को आपस में इस प्रकार जकड़ देना चाहिए कि उनमें शिथिलता न आने पाए। कहानी में जितने भी कम पात्रों का समावेश हो सके उतना ही अच्छा है। व्यर्थ के पात्र कथा में आ जाने से कथा का विकास रुक जाएगा। लेखक को कथा लिखते समय ध्यान रखना चाहिए कि कहीं पर भी तारतम्य टूटने न पाए। कथा को जहाँ तक हो सके सांकेतिक रूप देना चाहिए और उसके विकास में कोई बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिए। कथा की रचना में इतिवृत्तात्मकता आ जाने पर वह कथा न रहकर निबन्ध बन जाएगा। कथा का आकार बिना सांस्कृतिक प्रवृत्ति के स्थिर

पाली और प्राकृत में लिखी गईं और बाद में अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन्हीं बौद्ध-कथाओं को आधार बनाकर रचनाएँ की गईं। ६०० ई० पूर्व गुणाढ्य की 'बृहत् कथा' लिखी गई। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं। इस ग्रंथ की "बृहत् कथा मंजरी" और "कथा सरित्सार" में कथाएँ मिलती हैं। इन कथाओं का लेखन उपदेशात्मक प्रवृत्ति को लेकर हुआ, परन्तु अभिव्यंजना और कल्पना का आधिक्य हो जाने से यह मनोरंजन की पूर्ति करने में सफल हुईं। "दशकुमार चरित" की रचना तक क्रमशः इनका आदर्शवादी धार्मिक दृष्टिकोण बदलकर मनोरंजक हो गया।

आज की कहानी इस प्राचीन कहानी से जन्म लेकर नहीं आई।

कहानी के तीन तत्व

आज जो कथा-साहित्य हमारे सम्मुख है यह पूर्ण रूप से पश्चिम की उपज है। कहानी का जो रूप हम आज देखते हैं यह १६ वीं शताब्दी से पूर्व वर्तमान नहीं था। कहानी-तत्व केवल नाटकों और उपन्यासों में ही मिलता था। कहानी ने नाटक से कथोपकथन और नाटकीयता ग्रहण की और उपन्यास से चरित्र-चित्रण और काव्य से रसात्मकता तथा प्रकृति-चित्रण; और इस प्रकार कहानी ने नाटक, काव्य और उपन्यास तीनों के प्रधान गुणों को अपने में सन्निहित करके स्वयं को पाठकों के विशेष मनोरंजन का साधन बना लिया। इन्हीं तीनों तत्वों के आधार पर आज कहानी साहित्य की व्यापकता विशेष उल्लेखनीय है।

कहानी की रचना करने के लिए कहानी में कुछ विशेष नियमों और

रचना और परिभाषा

गुणों का समावेश लेखक करते हैं और उन्हीं के आधार पर समीक्षकों ने कहानी के आकार का विश्लेषण करके कुछ नियम भी बनाए हैं। कहानी में एक भाव, एक घटना, एक स्थान और एक चरित्र होना

चाहिए। यह नियम समीक्षकों का है, परन्तु लेखक इन्हें कहाँ तक निभाता है, यह कहना कठिन है। सभी नियम एक कहानी में कठिनाई से ही निभ पाते हैं। इन सभी नियमों का कहानी के कथानक से सम्बन्ध है। एक उद्देश्य को लेकर एक दृष्टिकोण से लिखी गई कहानी में एक ही भाव भी संचारित होगा। कहानी का बीजवस्तु एक होना आवश्यक है और वह स्पष्ट होना चाहिए। यदि लेखक अपने बीजवस्तु से पृथक् होकर कथा में निरुद्देश्य भटकने लगता है तो कथा विशृंखल हो जाएगी। कथा के कथानक को सर्वदा बीजवस्तु पर ही केन्द्रित होकर चलाना आवश्यक है।

कथा के तीन अङ्ग

कथा के तीन प्रधान अंग आरम्भ, कथानक और अन्त हैं। इन सभी का समुचित विकास होने से संतुलित कहानी का निर्माण होता है। परन्तु लेखक बहुत कम इन पर विचार करके लेखनी उठाता है। कथा में एक घटना न होकर यदि अनेक घटनाएँ हो जाती हैं तो वह कथा के सूक्ष्म कलेवर में पूरी तरह विकसित नहीं हो पातीं। लेखक को ध्यान रखना चाहिए कि यदि कहीं पर दो कथाओं का देना अनिवार्य ही हो जाए तो उन कथाओं को आपस में इस प्रकार जकड़ देना चाहिए कि उनमें शिथिलता न आने पाए। कहानी मे जितने भी कम पात्रों का समावेश हो सके उतना ही अच्छा है। व्यर्थ के पात्र कथा में आ जाने से कथा का विकास रुक जाएगा। लेखक को कथा लिखते समय ध्यान रखना चाहिए कि कहीं पर भी तारतम्य टूटने न पाए। कथा को जहाँ तक हो सके सांकेतिक रूप देना चाहिए और उसके विकास में कोई बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिए। कथा की रचना में इतिवृत्तात्मकता आ जाने पर वह कथा न रहकर निबन्ध बन जाएगा। कथा का आकार बिना सांस्कृतिक प्रवृत्ति के स्थिर

नहीं किया जा सकता। कथाकार का संकेत अप्रतिपादित वस्तु की ओर कलात्मकता को लिए हुए होना चाहिए।

चरित्र-चित्रण और कहानी के तीन प्रकार

आज की कहानी में चरित्र-चित्रण कोरी कल्पना का आधार लेकर मानव की केवल मनोरंजक प्रवृत्ति को ही सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यह बुद्धि के विकास का युग है जिसमें कथा के पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय मनोवैज्ञानिक आधार पर लेखक को अपना चित्रण संचालित करना होता है। कहानी तीन प्रकार की होती है, कथा-प्रधान, समस्या-मूलक और चरित्र-प्रधान ; समस्या-मूलक और चरित्र प्रधान कहानियों में चरित्र-चित्रण ही कहानी की विशेषता है। यों चरित्र-चित्रण के लिए पूरा क्षेत्र उपन्यास में ही प्राप्त होता है, परन्तु उसके मूल का निर्माण कथा में ही होता है। समस्या-मूलक कहानियों में चरित्र-चित्रण के साथ ही साथ समस्या का चित्रण करना भी अनिवार्य हो जाता है।

शैली

ऊपर हमने कथा के कथावस्तु, कथा के प्रकार, विषय, चरित्र-चित्रण और उसके विकास पर विचार किया है। सब पर विचार करने के पश्चात् शैली पर विचार करना है। शैली का सम्बन्ध कला के विषय और लेखक की प्रणाली से विशेष होता है। शैली का निर्माण विषय, लेखक की प्रणाली तथा भाषा तीनों के लेखक द्वारा सामंजस्य स्थापित करने से होता है। वस्तु प्रधान, कथोपकथन प्रधान, दृश्य चित्रण प्रधान तथा सम्बोधन प्रधान शैलियों को आज तक कहानीकारों ने अपनाया है। कुछ कहानियाँ चलती ही कथोपकथन की प्रधानता पर हैं। जयशंकर प्रसाद जी की कहानियाँ (आकाश दीप) इसी कोटि में आती हैं। कुछ कहानियों में लेखक वर्णनीय-वस्तु तथा कथोपकथन में समन्वय करके एकरूपता स्थापित

रखते हैं। इसी प्रकार की कहानियों की सफलता लेखक के सामंजस्य निभाने पर आधारित है। कुछ लेखक अपनी शैली में सम्बोधन को प्रधानता देते हैं। यह चारों शैलियाँ विचार और भाषा के आधार पर बनती हैं। कुछ में दोनों की प्रधानता किसी न किसी रूप में वर्तमान रहती है और कुछ में एक प्रधान और दूसरी गौण हो जाती है। शैली वास्तव में कहानीकार की अपनी विशेषता होती है और उसी के आधार पर साहित्य में उसकी ख्याति वर्तमान रहती है। लेखक का अपनापन प्रदर्शित करने की जो क्षमता उसकी शैली में वर्तमान रहती है वह उसकी विचारधारा में भी कभी-कभी पूर्ण रूप से मुखरित नहीं हो पाती। दो लेखकों की विचारधाराएँ पूर्ण रूप से एक हो सकती हैं परन्तु शैली नहीं।

यहाँ संक्षेप में कहानी के प्रधान गुणों और लक्षणों की पृथक्-पृथक् समीक्षा करके विद्यार्थियों को यही समझ लेना होगा कि कहानी उपन्यास का संक्षिप्त रूप है जिसमें संक्षेप से समीक्षक को उपन्यास की ही भाँति कहानी को परखने में उसकी कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, चरित्र के विश्लेषणात्मक (Direct or analytical) और नाटकीय या परोक्ष (Indirect or Dramatic), कथोपकथन, वातावरण (देश और काल), उद्देश्य तथा शैली (भाषा और भाव प्रधान), कहानी के आदि और अन्त इत्यादि पर ध्यान देना होता है और इन्हीं के आधार पर कहानी की समालोचना की जा सकती है।

हिंदी में कथा का विकास

उपन्यास-साहित्य पर विचार करते समय हम समय और उसकी विचारधारा पर प्रकाश डाल चुके हैं। जिस काल और विचारधारा ने उपन्यास-साहित्य को प्रभावित किया वही हिंदी के कथा-साहित्य को भी प्रभावित करने में फलीभूत हुआ है। इसका प्रधान कारण यही है कि हिंदी के प्रधान उपन्यासकार ही विशेषरूप से हिन्दी के प्रमुख कहानीकार

रहे हैं। इस दिशा में किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द, जयशंकरप्रसाद, विश्वम्भरनाथ कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अनेकों लेखकों ने उक्त लेखकों की प्रवाहित की हुई प्रणालियों को अपनाकर गल्प-साहित्य की पूर्ति की और सुन्दर रचनाओं से साहित्य के भंडार को भरा है।

एकाँकी नाटक

वैज्ञानिक प्रगतिवाद ने मानव जीवन की शिथिलता को भगाकर उसमें नवस्फूर्ति और नव चेतना का संचार किया है। इसके फलस्वरूप जीवन का समय नष्ट करने वाला प्रश्न तो फिर खड़ा ही नहीं होता। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि प्रगतिवादिता ने जीवन से मनोरंजन को निकालकर बाहर फेंक दिया। वरन् यह अवश्य है कि समय का मूल्य पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया। पहिले नाटक रात्रि के साढ़े नौ बजे प्रारम्भ होकर प्रातः काल साढ़े चार बजे समाप्त होते थे। जिसका अर्थ था कि आने वाले दिन को भी दर्शक को अपने घर पर विश्राम करना चाहिए, परन्तु यह प्रणाली धीरे-धीरे समाप्त हो गई और लम्बे लम्बे नाटकों के स्थान पर छोटे-छोटे नाटक लिखे जाने लगे। अंग्रेजी नाटककार 'बर्नाडशा' ने इसी प्रकार के छोटे नाटक लिखे हैं।

फिर भी नाटक में विस्तार रहता है। परन्तु छोटी गल्प की कहानियों की भांति भी नाटक क्षेत्र में छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर रचनाएँ लिखी गईं और यह रचनाएँ एकाँकी नाटक कहलाईं। हिन्दी में एकांकी नाटकों का इतिहास कुछ अधिक पुराना नहीं है। जो कुछ भी लिखा गया है वह भुवनेश्वर प्रसाद, गणेश प्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, सत्यकेतु, द्वारिका प्रसाद, सद्गुरुशरण अवस्थी, उदय शंकर भ, सेठ गोविन्द दास, प्यारे लाल, उपेन्द्र नाथ 'अश्क' इत्यादि लेखकों ने लिखे हैं। कथा सब नाटकों में हैं परन्तु उनमें समस्यामूलक नाटकों

रहे हैं। इस दिशा में किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द, जयशंकरप्रसाद, विश्वम्भरनाथ कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अनेकों लेखकों ने उक्त लेखकों की प्रवाहित की हुई प्रणालियों को अपनाकर गल्प-साहित्य की पूर्ति की और सुन्दर रचनाओं से साहित्य के भंडार को भरा है।

एकाँकी नाटक

वैज्ञानिक प्रगतिवाद ने मानव जीवन को शिथिलता को भगाकर उसमें नवस्फूर्ति और नव चेतना का संचार किया है। इसके फलस्वरूप जीवन का समय नष्ट करने वाला प्रश्न तो फिर खड़ा ही नहीं होता। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि प्रगतिवादिता ने जीवन से मनोरंजन को निकाल कर बाहर फेंक दिया। वरन् यह अवश्य है कि समय का मूल्य पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया। पहिले नाटक रात्रि के साढ़े नौ बजे प्रारम्भ होकर प्रातः काल साढ़े चार बजे समाप्त होते थे। जिसका अर्थ था कि आने वाले दिन को भी दर्शक को अपने घर पर विश्राम करना

(१०)

निबन्ध के प्रधान तत्व

यदि विचारात्मक और भावनात्मक दृष्टिकोणों के आधार पर कोई साहित्य समीक्षक गद्यसाहित्य के रूप निर्धारित करे तो निबन्ध का स्वरूप विशुद्धरूप से विचारात्मकता की श्रेणी में आता है। निबन्ध साहित्य का मस्तिक है और शैली का पूर्ण विकसित रूप। गद्य के भावना-क्षेत्र में जो स्थान उपन्यास अथवा कहानी का है उससे कहीं अधिक बुद्धि के क्षेत्र में निबन्ध का है।

परिभाषा—आधुनिक निबन्ध परिमार्जित भाषा का वह सुगठित साहित्य है जिसमें संतुलित विचारधारा को नपी-तुली शब्दावलियों में बुद्धि की कसौटी पर कसा जाता है। न उसमें व्यर्थ का बहाव ही है और न विषय का एकांगी विवेचन ही। व्यर्थ के दृष्टांत और शब्दजाल का घेरा डालकर आज का निबन्ध लेखक नहीं बैठता। वरन् वह तो संक्षेप में अपने मन की बात भर कह जाना चाहता है। डाक्टर जान्सन निबन्ध की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"मानसिक विश्व का निबन्ध वह थका हुआ बुद्धिविलास है जिसमें न कोई श्रम है और न नियम। यह विचारों की अधूरी और अव्यवस्थित रचनामात्र है।" परन्तु आज डाक्टर जान्सन की यह निबन्ध-विषयक परिभाषा निरर्थक हो चुकी है। विषय का परिमार्जित स्पष्टीकरण आज के युग का निबन्ध है। स्वाभाविक व्यक्तिगत विशेषता आज के निबन्ध में पाई जाती है और इसी को हम आज के निबन्धकार की शैली कहते हैं। हिंदी में निबन्ध शब्द अंग्रेजी के

Essay शब्द के पर्याय हैं। निबन्ध का अर्थ है संगठन, Essay का अर्थ है प्रयत्न। यह नामकरण फ्रांसीसी लेखक मोन्टेन (Montagan) ने किया था। निबन्ध का विषय विचार-प्रधान होने पर भी इतना नीरस और शुष्क नहीं हो जाना चाहिए कि उसकी दुरूहता के कारण वह पाठक के रुचि-स्तर से नीचे उतर जाए। हरीहरनाथ टंडन एम. ए. निबन्ध के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं, "निबन्ध" लेखक के ज्ञान की कसौटी है। कोरे पांडित्य प्रदर्शन के भाव से लिखा गया अथवा उलझे हुए भावों से बोझिल निबन्ध व्यर्थ होता है। निबन्ध शब्द का अर्थ है 'बँधा हुआ'। अतः थोड़े से सुन्दर चुने हुए शब्दों में किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने के प्रयत्न को ही निबन्ध कह सकते हैं। निबन्ध के विषयों की कोई सीमा नहीं। आकाश-कुसुम से लेकर चींटी तक निबन्ध के विषय हो सकते हैं।"

निबन्ध की आवश्यकता—किसी विषय की ज्ञान प्राप्ति के लिए उस विषय पर एक दो निबन्ध पढ़ लेना भर पर्याप्त रहता है। यह हुई पाठक के दृष्टिकोण से निबन्ध की आवश्यकता। जिस विषय पर एक बृहद् पुस्तक लिखी जा सकती है उसी पर एक निबन्ध भी पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है। अनुभवी लेखक निबन्धरूप में गागर में सागर भरता हुआ चलता है। निबन्ध लेखक और पाठक के बीच का वह माध्यम है जिसके द्वारा पाठक निबन्ध के विषय का ज्ञान करता है और लेखक कराता है। निबन्ध इस प्रकार पाठक के केवल ज्ञान का साधन मात्र नहीं है वरन् यह पाठक के मन में ज्ञान वृद्धि की जिज्ञासा भी उत्पन्न करता है। काश्मीर के सौंदर्य पर सुन्दर निबन्ध पढ़कर ऐसा कौन पाठक होगा जिसके मन में एक बार काश्मीर को अपनी आंखों से जाकर देख आने की लालसा न उत्पन्न हो जाए। निबन्ध मानव की ज्ञानवृद्धि में इस प्रकार साध्य भी है और साधन भी। निबन्ध द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के

निबन्ध के प्रधान तत्व

यदि विचारात्मक और भावनात्मक दृष्टिकोणों के आधार पर कोई साहित्य समीक्षक गद्यसाहित्य के रूप निर्धारित करे तो निबन्ध का स्वरूप विशुद्धरूप से विचारात्मकता की श्रेणी में आता है। निबन्ध साहित्य का मस्तिक है और शैली का पूर्ण विकसित रूप। गद्य के भावना-क्षेत्र में जो स्थान उपन्यास अथवा कहानी का है उससे कहीं अधिक बुद्धि के क्षेत्र में निबन्ध का है।

परिभाषा—आधुनिक निबन्ध परिमार्जित भाषा का वह सुगठित साहित्य है जिसमें संतुलित विचारधारा को नपी-तुली शब्दावलियों में बुद्धि की कसौटी पर कसा जाता है। न उसमें व्यर्थ का बहाव ही है और न विषय का एकांगी विवेचन ही। व्यर्थ के दृष्टांत और शब्दजाल का घेरा डालकर आज का निबन्ध लेखक नहीं बैठता। वरन् वह तो संक्षेप में अपने मन की बात भर कह जाना चाहता है। डॉक्टर जान्सन निबन्ध की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"मानसिक विश्व का निबन्ध वह थका हुआ बुद्धिविलास है जिसमें न कोई श्रम है और न नियम। यह विचारों की अधूरी और अव्यवस्थित रचनामात्र है।" परन्तु आज डाक्टर जान्सन की यह निबन्ध-विषयक परिभाषा निरर्थक हो चुकी है। विषय का परिमार्जित स्पष्टीकरण आज के युग का निबन्ध है। स्वाभाविक व्यक्तिगत विशेषता आज के निबन्ध में पाई जाती है और इसी को हम आज के निबन्धकार की शैली कहते हैं। हिंदी में निबन्ध शब्द अंग्रेजी के

Essay शब्द के पर्याय हैं। निबन्ध का अर्थ है संगठन, Essay का अर्थ है प्रयत्न। यह नामकरण फ्रांसीसी लेखक मोन्टेन (Montagan) ने किया था। निबन्ध का विषय विचार-प्रधान होने पर भी इतना नीरस और शुष्क नहीं हो जाना चाहिए कि उसकी दुरूहता के कारण वह पाठक के रुचि-स्तर से नीचे उतर जाए। हरीन्द्रनाथ टंडन एम. ए. निबन्ध के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं, "निबन्ध" लेखक के ज्ञान की कसौटी है। कोरे पांडित्य प्रदर्शन के भाव से लिखा गया अथवा उलझे हुए भावों से बोझिल निबन्ध व्यर्थ होता है। निबन्ध शब्द का अर्थ है 'बँधा हुआ'। अतः थोड़े से सुन्दर चुने हुए शब्दों में किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने के प्रयत्न को ही निबन्ध कह सकते हैं। निबन्ध के विषयों की कोई सीमा नहीं। आकाश-कुसुम से लेकर चींटी तक निबन्ध के विषय हो सकते हैं।"

निबन्ध की आवश्यकता—किसी विषय की ज्ञान प्राप्ति के लिए उस विषय पर एक दो निबन्ध पढ़ लेना भर पर्याप्त रहता है। यह हुई पाठक के दृष्टिकोण से निबन्ध की आवश्यकता। जिस विषय पर एक बृहद् पुस्तक लिखी जा सकती है उसी पर एक निबन्ध भी पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है। अनुभवी लेखक निबन्धरूप में गागर में सागर भरता हुआ चलता है। निबन्ध लेखक और पाठक के बीच का वह माध्यम है जिसके द्वारा पाठक निबन्ध के विषय का ज्ञान करता है और लेखक कराता है। निबन्ध इस प्रकार पाठक के केवल ज्ञान का साधन मात्र नहीं है वरन् यह पाठक के मन में ज्ञान वृद्धि की जिज्ञासा भी उत्पन्न करता है। काश्मीर के सौंदर्य पर सुन्दर निबन्ध पढ़कर ऐसा कौन पाठक होगा जिसके मन में एक बार काश्मीर को अपनी आँखों से जाकर देख आने की लालसा न उत्पन्न हो जाए। निबन्ध मानव की ज्ञानवृद्धि में इस प्रकार साध्य भी है और साधन भी। निबन्ध द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के

Essay शब्द के पर्याय हैं। निबन्ध का अर्थ है संगठन, Essay का अर्थ है प्रयत्न। यह नामकरण फ्रांसीसी लेखक मोन्टेन (Montagan) ने किया था। निबन्ध का विषय विचार-प्रधान होने पर भी इतना नीरस और शुष्क नहीं हो जाना चाहिए कि उसकी दुरूहता के कारण वह पाठक के रुचि-स्तर से नीचे उतर जाए। हरीहरनाथ टंडन एम. ए. निबन्ध के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं, "निबन्ध" लेखक के ज्ञान की कसौटी है। कोरे पांडित्य प्रदर्शन के भाव से लिखा गया अथवा उलझे हुए भावों से बोझिल निबन्ध व्यर्थ होता है। निबन्ध शब्द का अर्थ है 'बँधा हुआ'। अतः थोड़े से सुन्दर चुने हुए शब्दों में किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने के प्रयत्न को ही निबन्ध कह सकते हैं। निबन्ध के विषयों की कोई सीमा नहीं। आकाश-कुसुम से लेकर चींटी तक निबन्ध के विषय हो सकते हैं।"

निबन्ध की आवश्यकता—किसी विषय की ज्ञान प्राप्ति के लिए, उस विषय पर एक दो निबन्ध पढ़ लेना भर पर्याप्त रहता है। यह हुई पाठक के दृष्टिकोण से निबन्ध की आवश्यकता। जिस विषय पर एक बृहद् पुस्तक लिखी जा सकती है उसी पर एक निबन्ध भी पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है। अनुभवी लेखक निबन्धरूप में गागर में सागर भरता हुआ चलता है। निबन्ध लेखक और पाठक के बीच का वह माध्यम है जिसके द्वारा पाठक निबन्ध के विषय का ज्ञान करता है और लेखक कराता है। निबन्ध इस प्रकार पाठक के केवल ज्ञान का साधन मात्र नहीं है वरन् यह पाठक के मन में ज्ञान वृद्धि की जिज्ञासा भी उत्पन्न करता है। काश्मीर के सौंदर्य पर सुन्दर निबन्ध पढ़कर ऐसा कौन पाठक होगा जिसके मन में एक बार काश्मीर को अपनी आंखों से जाकर देख आने की लालसा न उत्पन्न हो जाए। निबन्ध मानव की ज्ञानवृद्धि में इस प्रकार साध्य भी है और साधन भी। निबन्ध द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के

अनुभवों से अपने ज्ञान की वृद्धि का साधन खोजता है। कम समय में अधिकाधिक ज्ञान वृद्धि का साधन केवल निबन्ध साहित्य ही है।

निबन्ध का व्यापक क्षेत्र—निबन्ध का कार्य-क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। निबन्ध संसार के प्रत्येक भावनात्मक, विचारात्मक और कथात्मक विषय पर लिखा जा सकता है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि ललित कला (काव्य) का अन्य कोई रूप ऐसा नहीं जिसका क्षेत्र इतना व्यापक हो। कहानी, उपन्यास, कविता सभी के क्षेत्र सीमित हैं। निबन्ध अपने नपे तुले शब्दों में ऐसा कोई चित्र नहीं कि जिसे अंकित न कर सके। निबन्ध का दृष्टिकोण एक तार्किक का दृष्टिकोण होता है जिसे संसार के प्रत्येक विषय और समस्या पर विचार करने का पूर्ण अधिकार है। आकाश-पाताल की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक समस्या, प्रत्येक छटा और प्रकृति की विभूति पर निबन्ध रचना की जा सकती है और उसमें काव्यात्मक दृष्टि-कोण मुखरित हो उठता है। जहाँ तक ईश्वर की प्रकृति अथवा समस्या का कोई भी विधान है वहा तक निबन्ध की पहुँच है।

निबन्ध की विशेषताएं—१. निबन्ध छोटा, सुगठित और गद्य में लिखा जाता है। कुछ निबन्ध पद्य में भी लिखे गए हैं परंन्तु विशेषरूप से निबन्ध के भावों का स्पष्टीकरण गद्य में ही हो सकता है।

२. निबन्ध व्यक्ति के दृष्टिकोण का प्रतीक है और सब प्रकार स्वच्छंद रहते हुए भी पूर्ण रूप से अपने में व्यवस्थित और पूर्ण है। यह समस्या-प्रधान साहित्य है जिसमें लेखक अपने विचारों के चित्र अंकित करता है।

३. निबन्ध में लेखक विषय को अपने विचारों की कसौटी पर कसता है और इस प्रकार उसके लेख में उसका व्यक्तित्व झलक उठता है। निबन्ध उपन्यास की भांति जीवन की व्याख्या का क्षेत्र न होते हुए भी अपने में एक व्यापक दृष्टिकोण रखता है।

४. निबन्ध में भाषा और भाव लेखक सजाकर रखता है और उनको व्यवस्था करने के लिए चुने हुए शब्दों का कलात्मक प्रयोग करता है। दार्शनिक निबन्धों में भी रसिकता रहती है।

निबन्ध का स्वरूप—निबन्ध का स्वरूप खड़ा करने के लिए लेखक को विचारात्मक दृष्टिकोण द्वारा निबन्ध लिखने से पूर्व उसका एक ढांचा तैयार कर लेना चाहिए। निबन्ध लिखते समय निबंधकार को निबन्ध के अंग प्रत्यंग को एक संतुलित और सुव्यवस्थित गठन के साथ लेखनीबद्ध करना चाहिए। व्यर्थ में किसी अप्रधान अंग को प्रधानता और प्रधान अंग को गौणता प्रदान करने से निबन्ध का सुंदर स्वरूप न बनकर विकृत स्वरूप खड़ा हो जाएगा। लेखक को लिखने से पूर्व निबन्ध की रूपरेखा तैयार कर लेनी चाहिए।

निबन्ध-लेखन ज्ञान—निबन्ध-लेखन के ज्ञान में वृद्धि करने के लिए लेखक के पास सबसे पहला साधन उसकी अपनी पुस्तकें हैं। पुस्तकों द्वारा लेखक का परिचय विविध ज्ञान विज्ञानों से हो जाता है। लेखक के पास ज्ञान प्राप्ति का दूसरा प्रधान साधन है देश-देशांतरों में भ्रमण करना और मार्ग में आने वाली प्रत्येक वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करना। पहिले की अपेक्षा दूसरा साधन कठिन अवश्य है परन्तु यह साधन अपेक्षाकृत अधिक सजीव है और वास्तविक ज्ञान प्रस्तुत करने के लिए प्रत्यक्ष वस्तु सामने लाकर खड़ी कर देता है। ज्ञान प्राप्ति का तीसरा साधन लेखक का पैना दृष्टिकोण है, उसके मस्तिष्क की वह अभिव्यंजना जिसके आधार पर उस ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है, जहाँ अन्य साधारण व्यक्ति के लिए पहुँचना कठिन है। सत्संग और सभा इत्यादि में भाग लेने से भी ज्ञानवृद्धि होती है।

निबन्ध के प्रमुख अङ्ग—निबन्ध-साहित्य के आचार्यों ने निबन्ध के तीन प्रधान अंग माने हैं। यह तीन अंग (१) प्रस्तावना (२) प्रसार (३) और परिणाम हैं।

प्रस्तावना (Introduction)—पाठक को लेख में मुग्ध कर लेने वाला ऐसा चित्रण निबन्ध के प्रारम्भ में एक सफल कलाकार प्रस्तुत करता है कि जिसमें आकर्षण की प्रधानता हो। लेख के प्रधान तत्वों का जो स्वरूप वह रचना का मुखद्वार खोलते ही प्रस्तुत करता है उसके चमत्कृत स्वरूप को साहित्य समीक्षक प्रस्तावना (Introduction) कहते हैं। प्रस्तावना निबन्ध का वह ट्रेलर (बानगी) होता है जिसमें एक सफल कलाकार लेख का सार निकालकर रख देता है। अच्छा लेखक लेख की संक्षिप्त समस्या को पहले प्रस्तावना में प्रस्तुत करता है और फिर उसके स्पष्टीकरण के लिए लेख लिखता है। बहुत ही संतुलित शब्दावली का प्रयोग प्रस्तावना में रहता है। प्रस्तावना लम्बी न होकर जितनी भी सूक्ष्म रहेगी उतनी ही सुन्दर प्रतीत होती है;

प्रसार (Body)—प्रसार लेख का प्रधान अंग है, जिसके अन्दर तर्क-वितर्कों और उदाहरणों द्वारा लेखक निबन्ध की रचना अथवा समस्या का कथात्मक अथवा विचारात्मक स्वरूप प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के सिर और पैरों को मिलाने के लिए दोनों के बीच धड़ की आवश्यकता है उसी प्रकार प्रस्तावना और परिणाम का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रसार की आवश्यकता है। प्रसार के न रहने पर सिर पैरों पर जा टिकेगा और व्यक्ति के सिर तथा पैर दोनों व्यर्थ हो जायेंगे। निबन्ध की सफलता और असफलता प्रधानतया निबंध के इसी भाग पर निर्भर करती है। निबंध के प्रधान विषय का विश्लेषण इसी भाग में होता है। निबन्ध का यही भाग लेखक की प्रतिभा और ज्ञान का दर्पण है। प्रस्तावना और परिणाम में केवल झांकी मात्र प्राप्त होती है, प्रधान

विषय का रहस्योद्घाटन नहीं होता। निबन्ध के इसी भाग के अंतर्गत लेखक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है कि समस्या क्या है, किस प्रकार उत्पन्न होती है और उसका क्या-क्या प्रभाव जीवन के किस-किस अंग पर पड़ता है, पड़ता रहा है और पड़ता रहेगा? विषय के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए निबन्ध का यही भाग प्रमुख होता है।

परिणाम (Conclusion)—परिणाम निबन्ध का वह अंतिम भाग होता है जिसमें लेखक अपनी समस्त रचना के सार को मदिरा की भांति खींच कर रख देता है। परिणाम का महत्व प्रस्तावना से किसी प्रकार भी कम नहीं आँका जा सकता। ज्यों प्रस्तावना पाठक के मन में निबंध पढ़ने की जिज्ञासा को जन्म देती है उसी प्रकार इस भाग में इतना बल होना चाहिए कि पाठक इसे पढ़कर यह समझ ले कि बस यह अब उस विषय का पूर्ण ज्ञाता हो गया। यदि परिणाम को पढ़कर भी पाठक के मन की जिज्ञासा को शांति न मिली तो निश्चित रूप से यह कहना होगा कि विषय पर अधूरा प्रकाश पड़ा है और परिणाम के प्रस्तुत करने में लेखक अपने विचारों को वह दृढ़ता प्रदान नहीं कर सका जो उसके लिए अपेक्षित है। यह निबन्ध की निर्बलता है और चित्रण का हलकापन। परिणाम में समस्त लेख की संक्षिप्त विवेचना लेखक प्रस्तुत करता है। कुछ लेखक निबन्ध के अन्त में उपदेशात्मक प्रणाली को भी अपनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु यह चित्रण का आधुनिक रूप नहीं है। कुछ लेखक न तो निबन्ध का सारांश ही परिणाम में प्रस्तुत करते हैं और न धार्मिक उपदेशों वाला ही उनका दृष्टिकोण है। यह विषय का प्रतिपादन करके विषय को पाठकों के ऊपर विचारने के लिए छोड़ देते हैं।

निबन्धों के प्रकार

निबन्ध का रूप, उसकी आवश्यकता और उसके क्षेत्र पर दृष्टि डाल लेने के पश्चात् अब हमें निबन्धों के प्रकारों पर विचार करना है। हमें

देखना है कि निबन्धों के क्या-क्या रूप हो सकते हैं, या आज तक जो निबन्ध लिखे गए उन्हें किन-किन प्रधान शैलियों के अंतर्गत विभाजित किया जा सकता है। हम पीछे बतला चुके हैं कि निबन्ध निस्सीम है, इसलिए उसे सीमा में बांधना कोई, साधारण कार्य नहीं, परन्तु फिर भी साहित्य-समीक्षकों ने निबन्ध के प्रकार बनाने का प्रयत्न किया है। यह प्रकार निम्न लिखित हैं :—

१. वर्णनात्मक निबन्ध।
२. कथात्मक निबन्ध।
३. विचारात्मक निबन्ध।

वर्णनात्मक निबन्ध—जब किसी वस्तु विशेष, प्रकृति विशेष, नदी, सागर, वाटिका विशेष, इत्यादि का वर्णन किया जाए तो वह रचना वर्णनात्मक निबन्ध कहलाएगी। जिन भावों, विचारों अथवा कथाओं का ज्ञान लेखक अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा करता है वह सभी वर्णन इसी प्रकार के अंतर्गत आते हैं। रेल, जहाज, मन्दिर, मस्जिद, गिर्जा, ताजमहल, कुतुबमीनार इत्यादि के वर्णन-प्रधान जो लेख लिखे जायेंगे वह सब इसी प्रकार के रूप होंगे। वस्तु और घटना का रोचक चित्र वर्णनात्मक घटनाओं में प्रस्तुत किया जाता है।

कथात्मक निबन्ध—कथात्मक निबन्धों में प्राचीन अथवा अर्वाचीन कथाओं का वर्णनात्मक चित्रण निबन्धकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इनमें ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक जीवनियां, यात्राएँ, काल्पनिक अथवा सत्य, सभी का वर्णन जब निबन्धकार कलात्मकता के साथ सुव्यवस्थित गठन से करता है तो कथात्मक निबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत होती है। वर्णनात्मक निबन्धों में कल्पना की अपेक्षा सत्य का समावेश अधिक रहता है। जो वस्तु जैसी होती है उसी इतिवृत्तात्मकता में चार चांद लगा कर लेखक निबन्ध के रूप में प्रस्तुत कर देता है। उदाहरण

के लिए यदि एक वृक्ष विशेष का वर्णन किया जा रहा है तो बरगद के पत्ते इमली जैसे नहीं बतलाए जा सकते, और नीम के पत्तों को ढांक के साथ नहीं रखा जा सकता। अरंड के तने को कीकर का तना नहीं बतलाया जा सकता, और केले के तने का मिलान पीपल के तने से होना असम्भव है। यदि कुत्ते का वर्णन करना है तो उसके दो मुंह दो पैर, दो नाक, इत्यादि नहीं वर्णित किए जा सकते। कथात्मक निबन्धों में कार्य और कारण का सम्बन्ध दिखला कर एक के पश्चात् दूसरी घटना के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला जाता है। कथात्मक निबन्ध लिखते समय कथा के प्रत्येक भाग को खूब अच्छी तरह परख कर निबन्ध लिखना होता है जिससे कि कहीं भी कथा का तारतम्य टूटने न पाए और उसकी घटनाओं की शृंखला निरन्तर बनी रहे। आगे बढ़ने पर पिछली कथा को बार-बार संक्षिप्त रूप में सामने रखकर पाठक के मस्तिष्क में उसे फिर-फिर कर जागृत करते रहना चाहिए जिससे कि पाठक सामने आने वाली कथा को समझने में कठिनाई अनुभव न करें। कथात्मक निबन्ध में कथा के क्रमिक विकास की ऐसी सुन्दर रूप-रेखा होनी चाहिए कि पाठक उसमें फँस कर अपनत्व को भुला बैठे।

विचारात्मक निबन्ध—विचारात्मक निबन्ध निबन्ध का Subjective स्वरूप है और उक्त दोनों Objective। निबन्ध के इस रूप के अंतर्गत आकार विहीन समस्याओं और उनके मूल तत्वों पर विचार किया जाता है। उदाहरण स्वरूप क्रोध, लोभ, मोह, आचार, विचार, सौंदर्य, शिक्षा, साम्यवाद, पूंजीवाद, चित्रकारी, नाटक, कीर्तन, दुर्बलता, इत्यादि को ग्रहण किया जा सकता है। इन विषयों का सम्बन्ध मानव के बुद्धितत्व से है, ज्ञानेन्द्रियों से नहीं। विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण किए बिना एक भी विषय पर लेख नहीं लिखा जा सकता। इन्हें लिखने से पूर्व प्राकृतिक नियमों को खोज कर कुछ

सिद्धान्तों को निश्चित किया जाता है और फिर उनके आधार पर निबन्ध की सुगठित रचना की जाती है। विचारात्मक निबन्धकार को अपने निबन्ध को विकसित करने के लिए कोई स्थूल आधार नहीं मिलता। इस प्रकार के निबन्धों का संचालन केवल कल्पना और बुद्धि के आश्रय पर होता है। निबन्ध लिखने से पूर्व लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह निबन्ध के मूल तत्वों की खोज करले। ऐसा न करने पर लेखक कुछ भी नहीं लिख सकेगा। कथात्मक और वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत तो लेखक विषय का विशेष ज्ञान न होने पर भी कुछ न कुछ लिखने का प्रयत्न कर सकता है, परन्तु विचारात्मक धारा के अंतर्गत विश्लेषण किए बिना निबन्ध लिखना सर्वथा असम्भव है।

कुछ साहित्य-समीक्षक निबन्धों का एक चौथा तार्किक-प्रकार मानते हैं, परन्तु तर्क-प्रधान निबन्ध भी हमारे दृष्टिकोण से, विचारात्मक निबन्धों की ही कोटि में आ जाता है। तर्क वास्तव में विचार का एक रूप मात्र है और बिना विचार के तर्क का निरूपण हो ही नहीं सकता।

निबन्ध की शैलियाँ

शैली—विचारों के पारस्परिक विनिमय की मूलाशय भाषा है और इसी के द्वारा मानव के भावों का प्रकाशन होता है। निबन्ध बिना भाषा के नहीं लिखे जा सकते। यहां यह सिद्ध हुआ कि निबन्ध लिखने के लिए निबन्धकार की प्रथम आवश्यकता भाषा है।

निबन्धकार को निबन्ध लिखने के लिए भाषा के पश्चात् वस्तु या विचार की आवश्यकता होती है।

व्यक्ति-प्रधान शैली—यह उक्त सब शैलियों से गूढ़ है इसी-लिए इसे गूढ़ शैली कहकर भी कुछ साहित्य-समीक्षक पुकारते हैं। इस

शैली के अंतर्गत लक्षणा और व्यंजना शक्ति का आधार मानकर लेखक भाषा का प्रयोग करता है।

विषय और विचार के आधार पर शैलियों के प्रकार—

१. **विचार-प्रधान शैली**—इस प्रकार की शैलियों में भाषा को गौण और विचार को प्रधान स्थान मिलता है। इस प्रकार की शैलियां व्यक्ति के व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकतीं।

२. **व्यक्ति-प्रधान शैली**—जिस शैली के अंतर्गत व्यक्ति विशेष के भावों और उसके क्रिया-कलापों की विशेष छाप हो और उसका सजीव चित्र प्रस्तुत करने में वह समर्थ हो उसे व्यक्ति-प्रधान शैली कहते हैं। इस शैली में निबन्धकार अपनी मनोवृत्तियों का दिग्दर्शन प्रथम पुरुष के रूप में कराता है।

३. **विषय-प्रधान शैली**—विषय-प्रधान शैली में विशेषता विषय की रहती है, व्यक्ति की नहीं। लेखक जब विषय की आत्मा परखकर उस का गम्भीर विवेचन करता है तो उसे इस शैली के अंतर्गत पहुँचना होता है। यहाँ वह व्यक्ति को भूलकर विषय और विषय की समस्या में तल्लीन हो जाता है। आलोचना और विज्ञान की कोरी भाषा बिना विषय के व्यर्थ है। भाषा और विषय के सामंजस्य के बिना निबन्ध की रचना नहीं हो सकती। विषय और भाषा का सामंजस्य स्थापित करके निबन्धकार अपनी रुचि द्वारा विषय में प्राण प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार विषय, भाषा और लेखक की रुचि के आधार पर शैली बनती है। शैली का साधारण अर्थ है प्रणाली अथवा ढंग। यह शैली का साधारण अर्थ है, परन्तु साहित्य-समीक्षक विचारों के उस स्पष्टीकरण को शैली कहते हैं जिससे अभिव्यक्ति में विषय के अन्दर रोचकता, रमणीयता और आकर्षण पैदा हो जाए। रीति, ध्वनि, अलंकार, शब्द-शक्ति इत्यादि यह सब 'शैली' के

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार शैली के निम्नलिखित चार गुण हैं :—

१. सरलता—लेखक को साधारण प्रभाव डालने के लिए सरल शब्द योजना वाली भाषा का प्रयोग करना।

२. स्वच्छता—गूढ़ से गूढ़ विचारधारा या भाव को स्पष्ट शब्दों द्वारा सरल भाषा में पाठक के सम्मुख रखना।

३. स्पष्टता—इसके अन्तर्गत स्वच्छता से स्पष्टता मिलाकर लेखक पाठक के हृदय में घर कर लेता है।

४. प्रभावोत्पादन—यह शैली का वह प्रौढ़ रूप है जिसमें पाठक लेखक से प्रभावित होकर उसे अपना मार्गद्रष्टा मान लेता है।

दोष—काव्य की शैली के सौंदर्य में जितने भी साधन किसी प्रकार की रुकावट डालते हैं वह साहित्य के दोष हैं। साहित्य के समीक्षकों ने उन्हें निम्नलिखित रूप में परखा है :—

१. कठिन भाषा और कठिन शब्दों का प्रयोग।
२. निरर्थक लम्बे वाक्यों का प्रयोग।
३. वाक्यों और शब्दों से उचित अर्थ न निकलना।
४. व्याकरण सम्बन्धी भूलें।
५. वाक्यों का पारस्परिक सम्बन्ध विच्छेद।
६. ग्रामीण शब्दों का प्रयोग।
७. एक शब्द का कई बार प्रयोग करना।
८. अत्युक्ति दोष।
९. अनुच्छेद में कई भावों का आना और अस्पष्ट रह जाना।
१०. कर्णकटु शब्दों का प्रयोग।
११. वाक्य में शब्द का उचित अर्थ न निकलना।
१२. स्थानीयता युक्त भाषा प्रयुक्त न होना।
१३. विचारों का समुचित सम्बन्ध स्थापित न होना।

१४. भाषा में गति न होना ।

१५. शब्द-जाल में फँसकर भाषा को नष्ट कर देना, इत्यादि ।

शैली के प्रकार

शैली का विभाजन विषय और भाषा को आधार मानकर किया जाता है, यह हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। शैली का तीसरा प्रकार व्यक्ति से प्रभावित होता है और उसे हम व्यक्ति-प्रधान का रूप देते हैं।

भाषा-प्रधान शैलियाँ—भाषा-प्रधान शैली का किसी भी अन्य शैली से पार्थक्य केवल भाषा के आधार पर रहता है । प्रत्येक व्यक्ति के भाषा-ज्ञान और उसके प्रयोग में पर्याप्त अन्तर होता है। केवल इसी प्रधान तत्व को आधार मानकर इस प्रकार को निर्धारित किया गया है। यह शैलियाँ निम्नलिखित हैं :—

१. **सरल भाषा शैली**—सरलता पूर्वक संक्षेप में बहुत कहने की परिपाटी को हम इस शैली के अन्तर्गत रख सकते हैं। इस शैली में पांडित्य प्रदर्शन न होकर स्पष्ट भाव और भाषा-योजना होनी चाहिए। व्यर्थ के घुमाव-फिराव के लिए इस शैली के अन्तर्गत कोई स्थान नहीं। न इसमें शब्द जाल का चमत्कार है और न व्यर्थ की अलंकारिकता का। छोटे-छोटे वाक्यों में सरल भावों की योजना होनी चाहिए।

२. **गुम्फित भाषा शैली**—इस शैली में लम्बे-लम्बे और उलझे हुए वाक्यों का प्रयोग रहता है। साधारण सी बात को भी घुमा-फिरा कर व्यर्थ के लिए गम्भीर बनाने के अभिप्राय से शब्द जाल में फँसा दिया जाता है। इस शैली का प्रयोग भाषा का प्रकांड पंडित ही कर सकता है। चण्डीप्रसाद हृदयेश की रचना-शैली इसी प्रकार की थी।

३. **मुहावरे प्रधान शैली**—यह भाषा विशेषतया मुहावरों के योग से सजीव बनती है। निबन्धों की अपेक्षा यह उपन्यासों के लिए बहुत

उपयुक्त है। निबन्धों में भी ऐसे इसका प्रयोग हुआ है। इस शैली की भाषा को साधारण सुगमता से समझा जा सकता है। मु० प्रेमचन्द ने इसी शैली को अपनाया था।

४. अलंकार-प्रधान शैली—इस शैली की भाषा में अलंकारों का बाहुल्य रहता है और श्लेष तथा यमक अलंकारों की भरमार रहती है। शैली में शब्दालंकारों की प्रचुरता के कारण ही इसका नाम अलंकार-प्रधान शैली पड़ा।

विज्ञान सम्बन्धी लेखों में यह शैली मिलती है।

५. आलोचनात्मक शैली—इस शैली के अन्तर्गत केवल आलोचनाएँ आती हैं, चाहे वह व्यक्ति की हों अथवा विषय की।

इस प्रकार हमने शैली के भाषा और भाव सम्बन्धी प्रकारों पर एक दृष्टि डाली। अब हम हिन्दी साहित्य में निबन्ध साहित्य के क्रमिक विकास पर समालोचनात्मक रूप से संक्षेप में विचार करेंगे। भारत में अँग्रेजी शासनकाल का प्रारम्भ होना था कि साहित्य में धीरे-धीरे पद्य का स्थान गद्य ने लेना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु फिर भी यह एक लम्बे युग की कहानी है। हिन्दी गद्य के उत्थान के साथ-साथ हिन्दी में निबन्ध रचना प्रारम्भ हुई।

हिन्दी के विद्वान अँग्रेजी विद्वानों के सम्पर्क में आए और उन्होंने निबन्ध, उपन्यास, कहानी इत्यादि नए विषय साहित्य में देखे और उन्हें परखा। हिन्दी साहित्य पश्चिमी साहित्य से प्रभावित होना प्रारम्भ हो गया और अनेकों अनुवादों के साथ-साथ निबन्ध का मौलिक स्वरूप भी हिन्दी के विद्वानों ने खड़ा किया। इस समय हिन्दी प्रान्तीय बोलियों के रूप में विविध धाराओं के अन्दर बह रही थी और उनका अपना गद्य का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। भाषा की इस कमी की ओर विद्वानों का ध्यान गया और वह इसका परिमार्जन करने के लिए कटिबद्ध हो गए। भाषा

में सुधार होने लगे और धीरे-धीरे उसकी शिथिलता का भी लोप दृष्टिगोचर हुआ। हिन्दी गद्य में सबसे पहिले गद्य रचना भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ने की। इस युग के अन्य प्रमुख निबन्धकार राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, राजा लक्ष्मणसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बद्रीनारायण, पं० अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस काल में सामाजिक, राजनीतिक और कुछ हास्यपूर्ण निबन्ध लिखे गए। इस काल में एक भी साहित्यिक निबन्ध नहीं लिखा गया। इस काल के लेखों में भाषा के विचार से उतना महत्वपूर्ण शैली का विकास नहीं हुआ था जितना कि व्यक्तित्व के विचार से पाया जाता है। इस काल के प्रत्येक लेखक की शैली उसके लेखों की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित हुई है। प्रायः सभी ने अलंकृत भाषा लिखने का प्रयत्न किया है।

अपरिमार्जित भाषा में विचारों का दम घुट रहा था और लेखक प्रयत्न करने पर भी अपनी भावनाओं का स्पष्टीकरण नहीं कर पा रहे थे। इसी समय हिन्दी साहित्य में आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने अपना जीवन हिन्दी प्रचार और भाषा-परिमार्जन पर लगा दिया। द्विवेदी जी द्वारा परिमार्जित की हुई भाषा में गम्भीर लेख लिखे जाने लगे और अन्य भाषा के प्रमुख निबन्धकारों के निबन्ध हिन्दी में अनुवाद स्वरूप प्रस्तुत किए गए। द्विवेदी जी ने स्वयं 'बेकन' के निबन्धों का हिन्दी में अनुवाद किया। आपने प्रयाग से 'सरस्वती' के सम्पादन द्वारा हिन्दी के लेखकों की एक ऐसी टोली तैयार की जिनमें से एक-एक व्यक्ति महान् प्रतिभाशाली सिद्ध हुआ। द्विवेदी जी के काल के गोविंद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, पं० माधव प्रसाद, मुं० प्रेम चन्द इत्यादि उल्लेखनीय निबन्धकार हैं। यह निबन्ध-साहित्य के विकास का द्वितीय काल था। इस काल में रचनाएँ तो बहुत हुईं परन्तु निबन्ध को वास्तव में

जो स्वरूप पाश्चात्य प्रदेशों में मिलता था वह खड़ा नहीं हो सका। निबंध के इस स्वरूप को खड़ा करने के लिए एक और महान् व्यक्तित्व हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के रूप में मिला।

यह हिन्दी गद्य का वह विकसित काल था जिसमें भाषा अपने अन्दर गम्भीर से गम्भीर विषय को खपाने की क्षमता रखती थी। भाषा के व्याकरण-सम्बन्धी दोष एक दम निकल चुके थे और उसमें प्रवाह के साथ व्यवस्था आ चुकी थी। ऐसी भाषा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पांडित्य ने चार चांद लगा कर हिन्दी को निबन्ध-साहित्य का वह स्वरूप प्रदान किया कि जो विचार की कसौटी पर कुन्दन बन गया। इस काल में निबंध-साहित्य कला और भाव पक्ष दोनों में समान रूप से विकसित हुआ और हिन्दी के विद्वानों ने पाठकों के सम्मुख भावनापूर्ण और विचारपूर्ण सामग्री नवीन से नवीन दृष्टिकोण को लेकर कलात्मकता के साथ प्रस्तुत की।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आपके निबन्धों में मानसिक विश्लेषण की जो अनुभूति विद्यमान है वह हिन्दी के अन्य किसी निबन्धकार के निबन्धों में उपलब्ध नहीं। आप की रचनाएं तर्क और चिंतन-प्रधान हैं। सूर, तुलसी और महाकवि जायसी के साहित्य की आपने जो आलोचना हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत की है वह आपकी अमिट धरोहर के रूप में हिन्दी साहित्य सर्वदा सुरक्षित रखेगा। 'चिन्ता मणि' आप के निबन्धों का सुन्दर संकलन है।

पं० पद्मसिंह—आपके निबन्धों में विचारों की मार्मिकता और भाषा का सजीव रूप मिलता है।

सरदार पूर्णसिंह—पूर्णसिंह जी के निबन्ध अधिकांश भावना-प्रधान हैं। भाषा मंजी हुई है और मुहावरों का विशेष प्रयोग किया गया है। भाषा में सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग मिलता है।

श्याम सुन्दरदास—आपकी शैली में स्वाभाविक प्रवाह की कमी है। भाषा कहीं बहुत क्लिष्ट और कहीं बहुत सरल है।

जयशंकरप्रसाद—भाषा संस्कृत-गर्भित है, परन्तु उसमें स्वाभाविक प्रवाह है। निबन्धों में भावना और विचार दोनों का सुन्दर सामंजस्य मिलता है।

वियोगी हरि—निबन्ध सरल और भाषा प्राजल है।

गुलाबराय एम० ए०—आपके निबन्ध कलापूर्ण हैं और शैली मे गाम्भीर्य है। चिंतन के लिए आपके निबन्धों में पर्याप्त सामग्री रहती है भाषा एकसार चलती है।

रायकृष्णदासजी—आपके भाव बहुत सजीव हैं और शब्दावली बहुत मधुर तथा निबन्ध हृदय-तत्व-प्रधान हैं।

इनके अतिरिक्त महादेवी वर्मा, पन्नलाल पुन्नालाल बख्शी, जैनेन्द्र कुमार, रामदास गौड़, सियाराम गुप्त, सम्पूर्णानन्द, रघुवीरसिंह, हरिभ उपाध्याय, किशोरीलाल मश्रुवाला, काका कालेलकर इत्यादि ने सुन्दर और विचारात्मक निबन्ध-साहित्य का सृजन किया है।

इस प्रकार निबन्ध-साहित्य के क्रमिक विकास पर एक दृष्टि ड पश्चात् यह पता चलता है कि आज का निबन्ध अपने परिमार्जन के उच शिखर पर पहुँच रहा है और एक से एक बढ़कर विचारवान् नि कार हिन्दी में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहा है। हिन्दी में आज विषय पर सुन्दर से सुन्दर निबन्ध लिखे जा रहे हैं और पाठक भी मुक्तहृदय से स्वागत करने को उद्यत हैं। निबन्ध-साहित्य पर साहित्य का चिंतन आधारित है। हमें आशा है कि यह दृष्टिकोण उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहेगा।

(११)

आलोचना का मूल्य

आलोचना प्रवृत्ति

आलोचक साहित्यकार का पथप्रदर्शक होता है, और आलोचना साहित्य का निर्धारित मार्ग। आलोचना और साहित्य का परस्पर बहुत घनिष्टतम सम्बन्ध है। संसार-साहित्य के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात से पता चलता है कि साहित्य और समालोचना का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है और किसी न किसी रूप में दोनों की धारा समानान्तर रूप से प्रवाहित होती चली आई है। जिस देश में साहित्य का सृजन हुआ है उस देश में आलोचकों ने भी जन्म लिया है। इसका प्रधान कारण यही है कि मनुष्य की विवेचनात्मक चेतना किसी भी वस्तु की समीक्षा किए बिना संतुष्ट नहीं हो सकती, और जबतक वह उसके गुण-दोषों को उलट-पलट कर नहीं परख लेती उसकी तुष्टि नहीं होती। अथवा अज्ञात रूप से मानव का बुद्धितत्व सर्वदा सामने आनेवाली वस्तु के गुण और दोप परखने में संलग्न रहता है। आलोचना-सिद्धान्त के मूल में मानव की यही प्रवृत्ति कार्य करती है। आलोचना का लक्ष्य है साहित्य का परखना, उसके गुण और दोषों को खोज कर उसके अन्दर से निकालना, दोषों को दूर करने के लिए सुझाव प्रस्तुत करना, साहित्य की सामान्य विशेपताओं की रूपरेखा निर्धारित करना और अन्त में अपना मत प्रकट करना और सहानुभूति के साथ सम्मानपूर्वक उसका मूल्यांकन करना। आलोचक गोताखोर के समान साहित्य के समुद्र में डुबकी लगाता है और यदि

इतने बड़े सागर में से उसे एक मोती प्राप्त हो जाता है तो उसकी आत्मा प्रसन्न हो जाती है। कलाकार से द्वेष रख कर आलोचना-क्षेत्र में आने वाला आलोचक साहित्य का शत्रु है, और उसी प्रकार सही आलोचना के सम्मुख सिर न झुका कर अपनी त्रुटियों का सुधार न करने वाले कलाकार का भी विचारात्मक दृष्टिकोण बहुत संकुचित है।

एकपक्षीय समालोचना

हिन्दी साहित्य में आलोचना का प्रादुर्भाव गद्य के विकास के साथ साथ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु संस्कृत साहित्य में हमें बड़े-बड़े ग्रंथों के भाष्य मिलते हैं और उनकी टीकाएँ भी हुई हैं। संस्कृत-कालीन टीका और आधुनिक आलोचना के मूल तत्वों में आकाश पाताल का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन संस्कृत की आलोचना को हम समालोचना कहें, टीका कहें, भाष्य कहें, प्रशंसा कहें या और भी इसी प्रकार का कोई शब्द सोचकर निकाला जा सकता है। परन्तु यह एक मत होकर कहना होगा कि अधिकांश भाष्यकारों ने प्रायः ग्रंथ के एक ही पक्ष को लिया है। यदि प्रशंसा करने पर तुले हुए हैं तो व्यर्थ की प्रशंसा के पुल बाँध दिए हैं, और यदि बुराई पर तुले हैं तो ग्रंथ को धूलि में मिला दिया है। संस्कृत साहित्य से लेकर ठीक महावीर प्रसाद द्विवेदीजी के काल में पं० पद्मसिंह शर्मा जी तक यही विचारधारा कार्य करती रही है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई की टीका की तो उन्होंने अपना उद्देश्य पहिले निर्धारित कर लिया कि उन्हें बिहारी को एक महान् कलाकार घोषित करना है। उनके दृष्टिकोण से बिहारी गुण और ज्ञान का भंडार बन गया, स्तुत्य हो गया और अब उसके साहित्य की त्रुटियों पर प्रकाश डालना उनका धर्म नहीं रहा।

यह तो रही गत युग की बात। परन्तु आज का आलोचक इस दृष्टिकोण को लेकर अपने लक्ष्य में फलीभत नहीं हो

वर्तमान दृष्टिकोण

सकता और; यदि वह ऐसा करेगा तो वह साहित्य का तो अहित करेगा ही, साथ ही अपनी विकसित होती हुई आलोचनात्मक प्रवृत्तियों को भी सर्वदा के लिए के नष्ट-प्राय कर देगा। आज का आलोचक साहित्य की विवेचना के लिए विविध दृष्टिकोणों से साहित्य को परखेगा। साहित्य के प्रधान तत्वों और अंगों का निरूपण हम पीछे इस पुस्तक में कर चुके हैं। उन्हीं के आधार पर वह ग्रंथ के कथावस्तु, पात्र, समस्या, देश-काल, उद्देश्य इत्यादि को लेखक के व्यक्तित्व, समाज की प्रवृत्तियों और शैली के निखरे हुए रूप में परखने का प्रयास करेगा। वह देखेगा कि लेखक ने अपनी रचना के पात्रों के साथ कितनी सहानुभूति से काम लिया है और उक्त रचना के सब अंगों पर कहाँ तक न्यायसंगति से प्रकाश डाला है। आज का आलोचक ग्रंथ की समालोचना करते समय ग्रंथकार को भुलाकर नहीं चल सकता। अच्छे को अच्छा, और बुरे को बुरा कहने के लिए भी आलोचक को प्रमाण प्रस्तुत करना होगा, केवल कह देना भर नहीं।

आलोचना साहित्य का प्रतिनिधि है

साहित्य आज कोरी कल्पना के क्षेत्र में विचरण नहीं करता। वह मानव के जीवन का विश्लेषण कर, समाज और राष्ट्र के अन्दर उन सब से उसका सम्बन्ध स्थापित करता है। आज का साहित्य भविष्य की रूपरेखा है और आगामी मानव की समस्याओं की ओर संकेत करता है। वर्तमान आलोचना-साहित्य कलात्मक साहित्य को केवल अच्छा-बुरा कहकर ही अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर लेता। आलोचना-साहित्य कलाप्रधान-साहित्य का मस्तिष्क है और भविष्य की ओर संकेत करता है। आधुनिक साहित्य और मानव के भविष्य की उज्ज्वल रूपरेखा

इस प्रकार आज के आलोचना-साहित्य मे निहित है। "यदि आलोचना उचित है और उसका मार्ग-प्रदर्शन सही है तो कोई कारण नहीं कि साहित्य का भविष्य उज्ज्वल न होगा, और यदि आलोचना में स्वार्थ और द्वेष की बदबू आती है तो उन आलोचनाओं से प्रभावित होने वाला साहित्य भी सड़ जाएगा और एक न एक दिन उस में भी बदबू आने लगेगी।" (प्रबन्ध सागर २६५ पृष्ठ)

रसवादी दृष्टिकोण

साहित्य में रसवादियों का मत कहता है कि हमे आलोचक की आवश्यकता नहीं। आलोचक चीर फाड़कर साहित्य की विज्ञान के आधार पर परख करना चाहता है। साहित्य की परख करने के लिए सहानुभूति की आवश्यकता है, तेज औज़ारो की नहीं। पाठक को स्वतन्त्र रूप से रचना के निकट पहुँचने देना चाहिए जिससे कि उसकी स्वाभाविकता किसी प्रकार भी नष्ट न होने पाए। वह कहता है कि हमें साहित्य का सौदा नहीं करना है, परखने के लिए दलाल या पारखी की आवश्यकता नहीं है, हम स्वयँ अपने हृदय और बुद्धि के बल द्वारा उसे परख कर उसका रसास्वादन करेंगे। इस मतावलम्बियों का कथन है कि आलोचना से रचना का प्रधान प्रयोजन आनन्द नष्ट हो जाता है। आलोचना द्वारा साहित्य के हृदय-पक्ष पर मस्तिष्क-पक्ष प्रधानता पा रहा है, जिसका अर्थ है निरंतर आनन्द और रस का ह्रास। आलोचना का आश्रय पाकर पाठक की आनन्दानुभूति नष्ट हो जाती है। काव्य के सुन्दर और रसात्मक स्थलों को परखने के लिए पाठक का हृदय-तत्व स्वयं कार्य करेगा, आलोचक की आवश्यकता नहीं। रसवादी दृष्टिकोण के प्रतिपादकों की ही भांति कला-पक्षवादी भी कला को, कला का सुन्दर रूप मानकर, आलोचक के उद्देश्य की स्थापित करने वाली भावना से वंचित रखना चाहता है। वह वैज्ञा-

निक बनकर कला का निरीक्षण नहीं करना चाहते, एक भावुक व्यक्ति के नाते भावना के स्रोत में बहकर परख करना चाहते हैं।

रसवादी और कलावादी दृष्टिकोण के अंतर्गत आलोचना को साहित्य की उन्नति और भावानुभूति में बाधक माना है। ठीक

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

उसी प्रकार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत साहित्य को समाज और राष्ट्र के क्षेत्र में रख कर छीछालेदर करने वाली मनोवृत्ति का खंडन किया गया है।

उक्त मतों के होने पर भी आलोचना साहित्य की प्रगति में हमें कोई बाधा नहीं दिखाई देती। आलोचना आज के युग में कोरी आलोचना मात्र नहीं रह गई है वरन् काव्य का एक अंग बनकर पाठकों के लिए उतनी ही रोचक सिद्ध हो चुकी है जितने उपन्यास, कविता, कहानी इत्यादि। आज यदि प्रकाशक के नाते हम साहित्य पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि उपन्यास-साहित्य के पश्चात् बिक्री के क्षेत्र में आलोचना साहित्य का स्थान है। इस वास्तविक जगत् के सत्य का यह अर्थ है कि समालोचना के हिन्दी में पाठक हैं और आज का बुद्धिवादी समाज समालोचना-साहित्य के पठन-पाठन में आनन्द लाभ लेता है। अब प्रश्न सामने यह आता है कि जब एक विचारात्मक दृष्टिकोण-धारी आलोचना-साहित्य के पढ़ने में आनंद लाभ कर सकता है तो क्यों नहीं उसे उस साहित्य के पढ़ने में आनन्द लाभ होगा जिसका स्पष्टीकरण उस आलोचना-साहित्य में किया गया है। आलोचना-साहित्य पाठक को कलात्मक साहित्य के समझने और रसास्वादन करने में सहायक होता है, बाधक नहीं।

यह सच है कि आलोचना विज्ञान की रूपरेखा नहीं बन सकती।

साहित्यिक और वैज्ञानिक आलोचना

साहित्य की आलोचना में आलोचक को अपनी कल्पना, भावना और विचार के समन्वय से काम लेना होता है और लेखक और उसके पात्रों के साथ सहानुभूति

बरतनी पड़ती है। इस प्रकार आलोचना करके आलोचक साहित्य की आत्मा को समझने और लेखक की भावना को परखने में पूर्ण रूप से समर्थ हो जाता है। आलोचना साहित्य के मूल्यांकन का वह माध्यम है जिसके द्वारा पाठक साहित्य की भावना, कल्पना और विचारात्मक तत्व के उस रूप को परखने में समर्थ होता है जिसे लेखक ने अपनी आत्मानुभूति के बल से साहित्य में प्रस्तुत किया है। आलोचना का मूल उद्देश्य यही है कि वह साहित्य के गुणों को खोज कर निकाले और उन्हें भावनापूर्वक परखने के लिए पाठकों के सम्मुख रख दे। यदि आलोचक इस प्रकार साहित्य और पाठक के बीच खड़ा होकर पथ प्रदर्शन नहीं करे तो अधिकांश पाठक काव्य की आत्मा तक को परखने से वंचित रह जाएँ।

इस प्रकार आलोचना साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी है और इसी लिए इसका मूल्य और महत्व स्वयं कला-साहित्य से किसी प्रकार भी कम नहीं आंका जा सकता।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७	१	रसास्वाद	रसास्वादन
६७	१२	का जैसा	का वैसा
६८	१८	यह नोट—	यह नाटक
७०	२	चरित्रों का	चरित्रों के
७०	३	विकास ही	विकास से
७०	४	समच्चिकों	समीक्षकों
७०	५	इन नाते	इस नाते
७०	१५	मौर्य की	मौर्य को
७६	१६	रस का	रस को
७६	११	ढीले वढ़	ढीले पड़
८१	४	सात्वकी	सात्वती
८१	२०	पात्र भी	पात्र ही

८२—नाटक के अध्याय में रुपक और रुप के स्थानों पर रूपक औ रूप होना चाहिए।

८२	१५	रूप शृङ्गार	रूप में शृङ्गार
८२	२३	एक का	एक अंक का
८४	८	इस रूढ़ियों	इन रूढ़ियों
८४	२१	भी प्रणाली	भी उस प्रणाली
८५	६	वस्तुतः और इस	वस्तुतः इन
८६	१६	कहां वारी	कहां नारी
८८	१२	नाटकों में	नाटकों का
८६	१०	परिवर्तिन	परिवर्तन
८६	१७	आगा हसन	आगाहश्र
६०	६	गल है	गर है
६२	२२	वातारण में	वातावरण में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	१८	भाषाओं में	भाषाओं को
६४	५	पुजरिन	पुजारिन
६४	१५	महेप	महेश
६४	१५	परमात्मा	धर्मात्मा
६५	५	कहीं किया	नहीं किया
६६	४	आर्शीर्वाद	आदर्शवाद
६६	२१	होने के	होने पर
१००	७	प्रयत्न है	प्रयत्न में
१०४	६	आप आप को	आप को
१०६	१४	नेत्रोल्मीलन	नेत्रोन्मीलन
१०६	२४	रप भी	पर भी
१११	११	स्वच्छंलता	स्वछंदता
१११	१६	वार्तों है	वार्तों से
११७	२३	समकालीन साहित्य	समकालीन साहित्य में
११८	१२	फ्राइठ	फ्राइड
११८	१७	लगा । संसार	लगा ।
११८	२१	भावुकता के	भावुकता का
१२०	३	पथारी	वाजपेई
१२०	८	प्रथान नाटक प्रधासी	प्रधान नाटक प्रवासी
१२०	१२	इस थारा	इस धारा
१२०	२१	नाटकारो	नाटककारों
१२०	२२	अन्ने नाटकों	अपने नाटकों
१२०	२४	आप नाटकों में-वाहिर्	आपके नाटकों में वाह्य
१२२	१३	त्रयत्व	त्रयत्व
१२२	२१	जवनिका	यवनिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२३	१८	आए जो	आए जिन्हें
१२३	१८	पर उन्हें	भर भी
१२३	१९	के नाटकत्व	के नाटक नाटकत्व
१२९	१२	आस्तित्व	अस्तित्व
१३०	१०	पूर्विर्ध	पूर्वार्ध
१३२	२१	यह कहा	यह है
१३३	१५	बनाने के	बनाने का
१३४	१४	अंग बन चुका।	अंग बन चुका है।
१३४	१६	यह सर्वप्रियता	इस सर्वप्रियता
१३४	२०	है वहा	में वहा
१३४	२०	पाठक की	पाठक के
१३६	१	जीवन उपन्यास	जीवन
१३६	१४	वह घटनाओं	पर वह घटनाओं
१३७	२	संचान्वित	संचालित
			मिली तो
			कथावस्तु के
			नहीं होते
			सापेक्ष
			लेखक
			उपन्यास के
			अपने जीवन
			कमियां और विशेषताओं
			लेखक का
			ने ले लिया